



जो सहता है वही रहता है

जीवन की दिशा बदलने वाले सूत्र

आचार्य महाप्रज्ञ

- ◆ हमारे भीतर प्रचुर शक्ति है। वैक्रिय की शक्ति है, आहारक की शक्ति है हमारे मन की शक्ति भी कम नहीं है। पर हम अपनी शक्ति को पहचानते नहीं हैं।
- ◆ विचार के मैल दूर करने, विचार को निर्मल बनाने का एक ही उपाय है कि निर्विचार की आग में विचार को डाल दिया जाए, वह अपने आप निर्मल हो जाएगा। विचार के सारै मैल साफ हो जाने के बाद उसमें से सृजनात्मकता, विधायकता, ज्योति और आस्थानिकलेगी।
- ◆ किसी के कहने से कोई चोर नहीं बनता और किसी के कहने से कोई साधु नहीं बनता। आत्मा स्वयं को जानती है कि मैं चोर हूँ या साहूकार हूँ।
- ◆ ग्रंथ या पंथ का धर्म बड़ा नहीं होता। धर्म वह बड़ा होता है जो हमारे जीवन के व्यवहार में उपलब्ध होता है।
- ◆ आधुनिक अर्थशास्त्र ने आसक्ति की चेतना को बहुत उभारा है। उससे भूख की समस्या का समाधान तो हुआ है, किन्तु आर्थिक अपराधों में भारी वृद्धि हुई है। अमीरों की अमीरी बढ़ी है, लेकिन उसी अनुपात में गरीबों को उतनी सुविधाएं नहीं मिली हैं।
- ◆ केवल अतीत के सुनहरे सपने दिखाने वाला धर्म चिरजीवी नहीं रह सकता। वही धर्म स्थायी आकर्षण पैदा कर सकता है, जो वर्तमान की समस्या को सुलझाता है।

जो सहता है, वही रहता है

जीवन की दिशा बदलने वाले सूत्र

आचार्य महाप्रज्ञ



जैन विश्व भारती प्रकाशन

संपादक : मुनि जयंतकुमार
सह संपादक : अशोक संचेती

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं- ३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

ISBN : 978-81-7195-160-4

प्रथम संस्करण : अक्टूबर २०१०

सौजन्य : 'समाज भूषण' श्री जसवंतमल सेठिया ट्रस्ट
चेन्नई

मूल्य : १००/- (एक सौ रुपये मात्र)

मुद्रक : पायोरॉइट प्रिण्ट मीडिया प्रा. लि. उदयपुर

अभिव्यक्ति

सहना सुखी जीवन की एक अनिवार्य अपेक्षा है। वास्तव में जो सहना जानता है, वही जीना जानता है। जिसे सहना नहीं आता वह न तो शान्ति से जी सकता है और न अपने परिपार्श्व के वातावरण को शान्तिमय रहने देता है। जहां समूह है वहां अनेक व्यक्तियों को साथ जीना होता है। जहां दूसरे के विचारों को सुनने, समझने, सहने और आत्मसात् करने की क्षमता नहीं होती, वहां अनेक उलझनें खड़ी हो जाती हैं। जितने भी कलह उत्पन्न होते हैं, चाहे वे पारिवारिक हों या सामाजिक उनके मूल में एक कारण असहिष्णुता है।

मनुष्य के पास शरीर है, वाणी है और मन है। जैन दर्शन की भाषा में इन तीनों की प्रवृत्ति को योग कहा जाता है। इन तीनों का आलम्बन लिए बिना शुभ या अशुभ कोई भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। सहनशीलता और असहनशीलता की अभिव्यक्ति का संबंध शरीर, वाणी और मन—तीनों के साथ है। यदि इन तीनों को साध लिया जाए तो सहिष्णुता का गुण स्वतः विकसित हो जाएगा। सहिष्णुता का विकास आपकी चेतना में शांति और आनन्द का अवतरण करने वाला सिद्ध होगा।

परम पूज्य आचार्यश्री महाप्रज्ञ का साहित्य विपुल मात्रा में प्रकाशित है। इसी में से निर्यूहण कर कुछ नया साहित्य भी सृजित किया गया है। जानकारी प्राप्त हुई कि मुनि जयंतकुमारजी ने ऐसा कुछ प्रयास किया है। उसमें अशोकजी संचेती का भी योग है। उसकी निष्पत्ति है 'जो सहता है, वही रहता है' पुस्तक। पाठक इससे लाभान्वित हों, मंगलकामना।

१०/१०/२०१०

तेरापंथ भवन, सरदारशहर

आचार्य महाश्रमण

सम्पादकीय

व्यक्ति समूह में रहता है। समूह में एक दूसरे को सहन करना अनिवार्य होता है। जो सहन करना नहीं जानता वह शांति का जीवन नहीं जी सकता। जिस परिवार में एक-दूसरे को सहन किया जाता है उसमें शांति एवं सौहार्द बना रहता है। आज परिवारों के टूटन की समस्याएं ज्यादा सामने आ रही हैं। इसके पीछे मूल कारण है सहनशक्ति का अभाव। युवा पीढ़ी सहन करना कायरता का लक्षण मानती है। पर अपने आप को किसी भी क्षेत्र में, किसी के बीच में स्थापित करना है तो सहनशक्ति जरूरी है। सहन वही कर सकता है जो स्वयं शक्तिशाली होता है या यह कहूं कि जिसने अपनी शक्ति को पहचान लिया है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ साहित्य जगत् का एक चर्चित नाम है। किसी एक व्यक्ति द्वारा तीन सौ पुस्तकों का लेखन होना, बहुत विलक्षण बात है। ऐसा कार्य करने वाले इने-गिने लोग ही मिलेंगे। उनमें एक नाम आचार्यश्री महाप्रज्ञ का है। उन्होंने हर एक विषय पर अपनी लेखनी चलाई, विविध विषयों को प्रवचन का आधार बनाया। दस वर्ष की अवस्था में संसार को त्यागने वाला एक धर्मगुरु सामाजिक, आर्थिक और व्यक्तिगत स्तर पर आने वाली समस्याओं का सटीक समाधान प्रस्तुत करें तो यह महान आश्चर्य है। यह काम आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने अपनी प्रज्ञा जागरण से किया। लोगों के मानस में यह विश्वास जमा हुआ था कि जिस समस्या का समाधान अन्यत्र न मिले वह समाधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ के पास अवश्य मिल जायेगा। बड़े-बड़े चिंतक, दार्शनिक, धर्मगुरु राजनीतिज्ञ सब इस आशा से उनके पास आते थे कि आचार्यश्री महाप्रज्ञ एक ऐसे शख्स हैं, महापुरुष हैं जो सम्पूर्ण विश्व का मार्गदर्शन कर सकते हैं। ऐसे महापुरुष के सान्निध्य में मुझे बारह वर्ष की

अवस्था से ही रहने का अवसर प्राप्त हुआ, यह मेरा परम सौभाग्य है। मैं केवल उनके सान्निध्य में ही नहीं रहा, आज जो कुछ भी हूँ उनकी ही वजह से हूँ। उन्होंने मुझे सन् २००६ भिवानी चातुर्मास में मीडिया का कार्य सौंपा। मैं खुद इस बात से अचंभित था, क्योंकि मीडिया से मेरा कोई ताल्लुक नहीं था। बिल्कुल अनजान शिष्य को ऐसा काम सौंपना और उसमें दक्षता की ओर बढ़ा देना, यह एक महान् गुरु ही कर सकता है। उनके विश्वास ने ही मुझे मीडिया से जुड़े लोगों में पैठ बनाने की शक्ति दी और लेखन में प्राण भरे।

सन् २००६ से ९ मई २०१० तक अनेक विषयों पर मीडिया में उनके विचार, आलेख प्रसारित हुए। पर कभी सोचा नहीं था, उन आलेखों की पुस्तक प्रकाशित होगी। एक बार अशोकजी संचेती से बात हो रही थी। उन्होंने बताया कि मेरे द्वारा पूर्व में 'महाप्रज्ञ फिचर्स' नाम से आचार्यश्री के आलेख मीडिया वालों तक पहुंचाए गये हैं। इस बात को सुनने के बाद मेरे मन में आया कि उन आलेखों को देखा जाये। मैंने अशोकजी से कहा कि वे फिचर्स मुझे मिल जाएं तो उन आलेखों को उपयोग में लिया जा सकता है। उन्होंने वे उपलब्ध करवाए, मैंने उनका अध्ययन किया, उस अध्ययन के बीच एक विचार आया कि आचार्यप्रवर का ९१वां जन्म दिवस सामने है, उस अवसर पर एक विशेष उपहार समर्पित करना चाहिए। वह उपहार क्या हो, इस पर भी अनेक दिनों तक चिन्तन किया। अंत में उन आलेखों की पुस्तक तैयार कर सरप्राईज के तौर पर प्रस्तुत करने का मानस बना। मैंने पुस्तक के सन्दर्भ में संचेतीजी से बात की, वह भी इस विचार से सहमत थे। उस पर काम चालू हुआ। मोमासर प्रवास में कम्पोज मैटर मेरे हाथों में था। पर उस दौरान ज्यादा कुछ काम नहीं हो सका। सरदारशहर में प्रवेश होने के बाद भी जो रूकावटें आ रही थीं उनका समाधान नहीं हुआ। मेरी इच्छा जो सरप्राईज देने की थी, वह पूरी होती नहीं लग रही थी। नौ मई सूर्योदय से पूर्व मैंने आचार्यप्रवर को सारी योजना निवेदित की। मेरे स्वयं के अभी तक समझ में नहीं आ रहा है कि वे सब बातें उस दिन मुंह से कैसे निकल गईं। आचार्यवर ने सब कुछ सुनने के बाद प्रसन्न मुद्रा में फरमाया कार्य बहुत अच्छा है, तुम इसको करो, सब ठीक हो जायेगा। ऐसा सुनकर मैं निश्चिंत हो गया। नया उत्साह जगा। पर उसी दिन दोपहर के दो बजकर बावन मिनट पर आचार्यप्रवर इस संसार को अलविदा कह गए। कार्य

पुनः वहीं ठप्प हो गया। मेरे जीवन-निर्माता, जिनको उपहार समर्पित करना था वही हमारे बीच प्रत्यक्ष नहीं रहे फिर पुस्तक किसलिए तैयार करूं, यह प्रश्न मानस-पटल पर उभर रहा था। एक दिन मैं चिंतन में खोया हुआ था। चिन्तन से एक स्फुलिंग निकला, जिस कार्य के सन्दर्भ में मैं अपने प्रभु को निवेदन कर चुका हूं, उसको तो किसी भी हालात में पूरा करना है। चिंतन का यही स्फुलिंग 'जो सहता है वही रहता है' पुस्तक को आपके हाथों में पहुंचाने में सहायक बना है। इस पुस्तक में 'अभिव्यक्ति' प्रदान कर आचार्यश्री महाश्रमण ने मेरे उत्साह को बढ़ाया है, इस हेतु मैं आपश्री का कृतज्ञ हूं। इसके अलावा उन दिव्यात्माओं का भी आभारी हूं, जिन्होंने समय-समय पर मेरी समस्याओं का समाधान किया और उन महानुभावों को साधुवाद देता हूं जिन्होंने इस कृति का अवलोकन कर अपने-सुझाव प्रदान किये, जिनकी वजह से कृति में निखार आ सका।

'जो सहता है, वही रहता है' पुस्तक युवापीढी को नई दिशा देने वाले सूत्रों को संजोये हुए है। ये सूत्र युवाओं के जीवन-निर्माण में चमत्कारिक ढंग से कार्य करेंगे। जिससे युवा जोश के साथ होश को कायम रख सकेंगे और अपने सोचने के तरीके को सम्यक बना सकेंगे।

११/१०/२०१०

— मुनि जयंतकुमार

तेरापंथ भवन, सरदारशहर

अनुक्रम

१. जो सहता है, वही रहता है

१-१२

● शक्ति और सहनशीलता ● शक्ति के स्रोत ● शक्ति के केन्द्र ● शक्ति की पहचान ● संकल्प से शक्ति का अनुभव ● सहनशीलता हो व्यक्ति की पहचान ● स्वार्थ की सीमा ● स्वार्थ और परमार्थ ● समाज में संवेदनशीलता ● स्वभाव और सहनशीलता ● संक्रमणशील है संसार ● सहिष्णुता का कवच ● विचार का परिष्कार ● प्रशिक्षण का मूल्य।

२. जीवन में परिवर्तन

१३-४८

● द्रव्य और पर्याय ● जीवन का आधार ● परिवर्तन का हेतु ● दुःख : यथार्थ व अयथार्थ ● क्रोध की आग ● परिवर्तन एवं परिस्थिति ● स्वयं पर स्वदृष्टि ● जीवन के पक्ष और प्रणालियाँ ● सच्चा सुख स्वाधीनता ● परिस्थितिवाद से मुक्ति ● शस्त्र और परिस्थिति ● संत की समता ● परिस्थिति पर दोषारोपण ● अस्तित्व और नास्तित्व ● दृष्टिकोण में परिवर्तन ● विचारों में विरोध ● मन की मीमांसा ● मन और मनन ● संचालक तत्त्व ● वात विकार के परिणाम ● पित्त के परिणाम ● सोचने की कला ● चिंतन और चेतना।

३. समता की दृष्टि

४९-७४

● सत्य का साक्षात्कार ● क्रोध : कारण और निवारण ● समता है तीसरी आँख ● साधना का सूत्र ● प्रतिक्रिया पर नियंत्रण ● पुष्ट आलंबन ● सत्य के विविध आयाम ● अनेकांत सूत्र ● विरोधी प्रवाह ● विज्ञान की दृष्टि से ● प्रतिपक्ष की आवश्यकता ● व्यवहार के विभिन्न आधार ● निषेधात्मक भाव से बचाव ● संभव है सह-अस्तित्व ● जीभ की विकृति ● व्यक्त एवं अव्यक्त ● शत्रु एवं मित्र।

४. व्यक्तित्व के विविध रूप

७५-१०६

● परिवर्तन का नियम ● व्यक्तित्व के प्रकार ● मनोदशा ● नामकरण का आधार ● सापेक्ष सत्य ● अभय कैसे बनें? ● बुद्धि और अभय ● बुद्धि और भय ● भय और अभय की आवश्यकता ● भय का कारण ● अभय है आत्मस्थ ● भयग्रस्त कौन? ● न डरें, न डराएँ ● प्रतिक्रिया से बचाव ● प्रतिक्रिया के हेतु ● सापेक्ष दृष्टिकोण ● भाषा की दुर्बलता ● स्यात् शब्द की सार्थकता ● प्रवृत्ति और परिणाम

- वृत्ति एवं प्रवृत्ति ● मन का मंथन ● गुप्ति की साधना ● मनोबल मजबूत करें
- मनोबल और मानसिक स्वास्थ्य ● मानस दोष ● मानस दोष के प्रकार ● कर्म का वर्गीकरण ● अध्यात्म एवं आयुर्वेद ● उद्देश्य का अंतर ● मात्सर्य ● भय
- वीतराग की भूमिका ।

५. अपना आलंबन स्वयं बनें

१०७-१३६

- जहाँ शोषण, वहाँ समस्या ● शोषणमुक्त समाज ● शोषण : धार्मिक दृष्टि ● व्रत व्यवस्था ● समाज में श्रम की स्थापना ● प्रगति का पथ ● श्रमनिष्ठा का सिद्धान्त
- दुःख से बचाव ● सुख और दुःख ● अभावात्मक परिभाषा ● भावात्मक परिभाषा ● संवेदन और सुख का संबंध ● महावीर की परिभाषा ● सुख-दुःख का सेतु ● नया ब्रह्मचर्य ● चिंतन की दिशा ● कायाकल्प ● उच्च लक्ष्य के पथ पर
- एक लक्ष्य ● पड़ाव नहीं है लक्ष्य ● पुरुषार्थ एवं क्षयोपशम ● भाग्य की डोर ● आत्मा से जुड़ाव ● आत्मप्रज्ञ बनो ● लक्ष्यपथ का चयन ● अनेकात्मक है ध्यान की पद्धति ● आत्मा का स्वास्थ्य ● अगर समझ होती ● ध्येय और ध्याता
- वह ध्यान कैसे करेगा ? ● ध्येय के प्रकार ● साक्षात्कार के सरल सूत्र ● संभव है साक्षात्कार ● साक्षात्कार का उपाय ● बड़ा कौन ? ● इंद्रिय और मन का निरोध
- शक्ति का संचार ● अमन की अवस्था ● अस्तित्व का अनुभव ।

६. प्रकृति एवं विकृति

१३७-१६०

- नींव के पत्थर ● तीन निर्णायक सत्य ● जीवन की दिशा ● 'पर' से है परिचय
- सार्थक सहवास ● आत्मदर्शन की भूमिका ● घटना और संवेदन ● स्वस्थ जीवन की शैली ● अनेकांत के पहलू ● अनेकांत दृष्टि ● सत्य की खोज ● नवांगी जीवन
- स्वास्थ्य का मूल आधार ● मस्तिष्क तथा श्वसन ● स्वस्थ समाज की संरचना
- संवेग का संतुलन ● अनासक्ति ● जीवनशैली की त्रिपदी ● अध्यात्म से आरोग्य
- वीतरागता की दिशा ● अध्यात्म और आयुर्वेद ● मूल का मर्म ● विधेयक भावों का निर्माण ● पदार्थ के पर्याय ● भावधारा ।

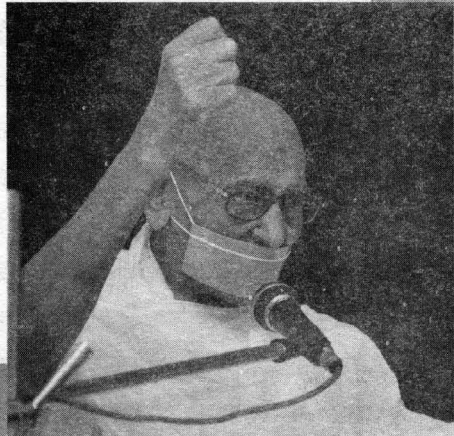
७. दिशा और दशा

१६१-१८२

- मौलिक मनोवृत्तियाँ ● दिशा से दशा का परिवर्तन ● हृदय-परिवर्तन के सूत्र
- अहिंसा की शक्ति ● जीवन की दो धाराएँ ● अभय का मूल अहिंसा ● समानता की स्थापना ● कर्म की प्रकृति ● समाज की स्थिति ● बदलने का सामर्थ्य
- असमानता की अभिव्यक्ति ● समाज का बिखराव ● समानता के हेतु
- जातिभेद का कारण ● आंदोलन की आवश्यकता ● अहिंसा की वास्तविक सच्चाई ● प्रश्न है औचित्य का ● श्रेष्ठता की कसौटी ● युग की समस्या ● जीवन और जीविका ● अभयारण्य ● वर्तमान की जागरूकता ● जीवन है समन्वय
- जीवन का लक्ष्य ● जीवन व जीविका ।

जो सहता है, वहीं रहता है

“शक्तिशाली ही सहिष्णु बन सकता है। जो सहिष्णु होता है, सहना जानता है, वही अपने अस्तित्व को बनाए रख सकता है।”



अध्याय

१

व्यक्ति वज्रपंजर का निर्माण कर लेता है, तो फिर चाहे भूत आए, पिशाच आए या राक्षस आए, कोई भी उसे भेद कर प्रवेश नहीं कर सकता। कार्यकर्ता को भी सहिष्णुता का वज्रपंजर बनाना जरूरी है। जब तक कार्यकर्ता सहनशील नहीं होगा, वह धैर्य और शांति का परिचय नहीं दे पाएगा।

आ

धुनिक युग को प्रभावित करने वाले कुछ प्रमुख व्यक्तियों में एक हैं चार्ल्स डार्विन। उन्होंने विकासवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। प्रश्न है, इस दुनिया का विकास कैसे हुआ? दो सिद्धान्त हैं, उत्पत्तिवाद और विकासवाद। इस दुनिया की उत्पत्ति और विकास। इस दुनिया की उत्पत्ति कैसे हुई? इस संदर्भ में अनेक दार्शनिकों ने अपने-अपने विचार प्रस्तुत किए, किन्तु उन सब में आज वैज्ञानिक दृष्टि से चार्ल्स डार्विन मुख्य माने जाते हैं। डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त है—जैसे विकास करते-करते यहाँ तक पहुँचे हैं और वे ही जातियाँ-प्रजातियाँ बची हैं, जो खुद को जीवित रखने में सक्षम हुई हैं। जो शक्तिहीन होता है, वह समाप्त हो जाता है, यह विकासवाद की मुख्य अवधारणा है।

शक्ति और सहनशीलता

शक्ति के बिना कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता। अपने अस्तित्व को वही बनाए रख सकता है, जो सक्षम है। जैसे यह बात सृष्टि के बारे में लागू होती है, वैसे ही यह नियम अध्यात्म पर भी लागू होता है। आध्यात्मिक जीवन में वही व्यक्ति टिकता है, जो सहता है, जो शक्तिशाली होता है, जिसमें सहनशीलता होती है।

शक्ति के स्रोत

शक्ति और सहिष्णुता, दोनों साथ-साथ जुड़े हुए हैं। हमें खोजना है कि शक्ति के स्रोत कहाँ हैं? कितने हैं? सहन करो, यह उपदेश बहुत अच्छा है, पर कहने मात्र से सहन करने की शक्ति उपलब्ध नहीं होती। जब तक शक्ति के स्रोत नहीं खुल जाते, तब तक सहन करने की बात संभव नहीं बनती। हम शक्ति के स्रोतों की खोज करें। हमारे अध्यात्म के आचार्यों ने बहुत खोजें की थीं, वे चाबियाँ आज भी प्राप्त हो सकती हैं, पर हम भूल गए हैं कि वे कहाँ रखी हुई हैं?

शक्ति के केन्द्र

आज मस्तिष्क के बारे में बहुत खोजें चल रही हैं। वैज्ञानिकों द्वारा मस्तिष्क के दो केन्द्र खोजे गए हैं। एक है सुख का केन्द्र और दूसरा है दुःख और विषाद का केन्द्र। बंदरों पर प्रयोग किया गया। एक बंदर के आनंद के केन्द्र पर इलेक्ट्रॉड लगा दिया गया। उसे इतना आनंद आया कि वह स्वयं बार-बार अपने आप इलेक्ट्रॉड लगाने लगा। इसी प्रकार दूसरे बंदर के दुःख के केन्द्र पर इलेक्ट्रॉड लगाया गया, वह उदास निराश रहने लगा। वैज्ञानिकों ने आनंद का केन्द्र भी खोज लिया, दुःख का केन्द्र भी खोज लिया। शक्ति के केन्द्र की खोज अभी शेष है।

शक्ति के रूप

हमारे भीतर शक्ति के बहुत सारे केन्द्र हैं। एक आदमी शरीर से बहुत समर्थ होता है और एक आदमी मनोबल से बहुत समर्थ होता है। ध्यान विचार में एक सुंदर मीमांसा की गई है—उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य, ये सब शक्ति के ही स्वरूप हैं।

उत्साह—ऊर्ध्वलोक चिंता

हमारी एक शक्ति का रूप है उत्साह। जब ऊपर की बातों को जानना

होता है और उसके लिए शक्ति का जो प्रयोग किया जाता है, उस शक्ति का नाम है उत्साह।

पराक्रम—अधोलोक चिंता।

एक व्यक्ति जिस स्थान पर बैठा है, उसे आस-पास की चीजों को जानना है, उसके लिए शक्ति का जो प्रयोग होता है, वह है पराक्रम।

चेष्टा—तिर्यग्लोक चिंता।

जब नीचे की चीजों को जानना होता है, तब शक्ति का स्वरूप होता है चेष्टा। जहाँ अंधकारमय स्थान है, वहाँ चेष्टा का प्रयोग होता है।

शक्ति—परमतत्त्व चिंता।

ऊपर को जानना, तिरछी चीज को जानना सरल है, किन्तु परम तत्त्व का ज्ञान कठिन है। एक स्थान पर बैठे-बैठे परम तत्त्व को जानना है और उसके लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह है हमारी शक्ति।

सामर्थ्य—सिद्धायतन एवं सिद्धस्वरूप चिंता।

निर्णीत स्थान से बैठे-बैठे सिद्धों के साथ सम्पर्क स्थापित करना और उसके लिए हम जो प्रयत्न करते हैं, वह है हमारा सामर्थ्य।

शक्ति की पहचान

अनेक लोग प्रश्न पूछते हैं, क्या महावीर और देवर्द्धिगणि के साथ सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है? क्यों नहीं हो सकता? हमारे भीतर प्रचुर शक्ति है। हमारे भीतर वैक्रिय की शक्ति है, आहारक की शक्ति है। हमारे मन की शक्ति भी कम नहीं है। मनोवर्गणा के पुद्गल पूरे लोक में फैल जाते हैं, पर हम अपनी शक्ति को पहचानते नहीं हैं। शक्ति का होना जितना कठिन नहीं है, उतना कठिन है शक्ति को पहचानना, शक्ति के स्रोतों को जानना, शक्ति के स्रोतों का उपयोग करना।

पहला स्रोत

शक्तिशाली ही सहिष्णु बन सकता है। जो सहिष्णु होता है, सहना जानता है, वही अपने अस्तित्व को बनाए रख सकता है। अस्तित्व को बनाए रखने के लिए सहना जरूरी है, सहने के लिए शक्तिशाली होना जरूरी है और शक्तिशाली होने के लिए शक्ति के स्रोत को जानना एवं उसका उपयोग होना जरूरी है।

शक्ति का सबसे बड़ा स्रोत है—सत्य में धृति करना। हम नियम को नहीं जानते, इसीलिए हमें सत्य में भरोसा नहीं होता, सत्य के प्रति आस्था ही नहीं जमती। जहाँ सत्य में धैर्य नहीं होता, वहाँ सहिष्णुता की बात संभव नहीं होती।

कभी-कभी कुछ कार्य नियति के भरोसे छोड़ने पड़ते हैं। यह भी शक्ति का एक स्रोत है। जो आदमी केवल बुद्धि पर ही भरोसा करता है, वह लड़खड़ा जाता है। एक बिंदु ऐसा आता है, जहाँ यह सोचना पड़ता है कि चलो, जैसा होना है, वैसा होगा। इस चिंतन से व्यक्ति में ताकत आ जाती है।

दूसरा स्रोत

शक्ति का दूसरा स्रोत है—स्वयं को स्वयं का मित्र मानना। जो अपने आपको मित्र नहीं मानता, केवल दूसरों को मित्र या शत्रु मानता है, वह हमेशा कमजोर बना रहता है। मैं ही मेरा मित्र हूँ और मैं ही मेरा शत्रु हूँ, यह शक्ति के स्रोत को जगाने का सिद्धान्त है।

तीसरा स्रोत

शक्ति का तीसरा स्रोत है—स्वयं का निग्रह करना। जो अपनी इंद्रियों का, आवेशों का, मन की चंचलता का निग्रह करना जानता है, उसमें अपने आप शक्ति का स्रोत फूट पड़ता है। दूसरों को आदेश देना, ताड़ना देना, उलाहना देना, ये काम कोई भी व्यक्ति कर सकता है। इसमें कोई बड़ी बात नहीं है। महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया गया—पहले अपना निग्रह करो, इससे एक बड़ी ताकत पैदा होगी, समस्याओं का समाधान मिलेगा।

चौथा स्रोत

शक्ति का चौथा स्रोत है—आदान का निषेध। महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि प्रत्येक बात को सहसा मत स्वीकारो। पहले सोचो, क्या मैं इसे स्वीकार करूँ? क्या इसे स्वीकार करना उचित है? यह सब सोचकर जो अयोग्य लगे, उसे अस्वीकार कर दो।

सम्राट विक्रमादित्य एक बार बहुत गरीबी का जीवन जी रहे थे, समस्या से ग्रस्त थे। विक्रमादित्य का मित्र था भद्रमात्र। दोनों ने निश्चय किया कि हम देशाटन करें, कहीं ऐसा शक्ति का स्रोत खोजें, जिससे निर्धनता मिट जाए। वे

एक गाँव में कुम्हार के घर पर ठहरे। कुम्हार को उनकी गरीबी पर दया आ गई। कुम्हार ने कहा, 'हमारे यहाँ एक रोहणाचल पर्वत है, वहाँ जाकर कोई व्यक्ति सिर पर हाथ रखकर, दीन स्वर में 'हा देव, हा देव' कहता है और उस पर्वत पर कुदाली की चोट करता है, तो मालामाल हो जाता है।' मित्र भट्टमात्र ने सोचा कि विक्रमादित्य ऐसा करे, यह लगता नहीं है। उसने एक योजना बनाई। वह विक्रमादित्य से थोड़ा पीछे रह गया। जब विक्रमादित्य पर्वत के पास पहुँचे तो मित्र ने कहा, 'विक्रम! तुम्हारी माँ का देहान्त हो गया है।' विक्रमादित्य ने सिर पर हाथ रखकर कहा, 'हा देव, हा देव।' यह कहते हुए उन्होंने कुदाली पत्थर पर गिरा दी। पत्थर टूट गया। पत्थर टूटते ही एक रत्न निकला। विक्रमादित्य यह देखकर स्तब्ध रह गए। भट्टमात्र से रत्न की प्राप्ति का रहस्य सुनकर विक्रमादित्य ने तत्काल वह रत्न जंगल में ऐसे फेंक दिया, मानो कुछ मिला ही नहीं था। विक्रमादित्य ने भट्टमात्र से कहा, 'विक्रम गरीब रह सकता है, कभी दीन नहीं बन सकता।'

संकल्प से शक्ति का अनुभव

जिस व्यक्ति में यह पराक्रम होता है, वह हर किसी बात को जैसे-तैसे स्वीकार नहीं करता। हम दरवाजे को हमेशा खुला न रखें। हर किसी को प्रवेश न दें, अपने आप शक्ति का स्रोत उपलब्ध हो जाएगा।

महावीर ने केवल यही नहीं कहा कि निर्ग्रन्थ वह होता है, जो अनुकूल-प्रतिकूल बात को सहन करता है, किन्तु सहन करने के लिए जो शक्ति का स्रोत चाहिए, उसकी प्राप्ति के सूत्र भी बतलाए। जब आत्मा के अंदर से शक्ति का स्रोत फूट जाता है, एकाग्रता और संकल्प की शक्ति जाग जाती है, तब आदमी सचमुच अपनी अनंत शक्ति का अनुभव करने लग जाता है, उसमें सहन करने की शक्ति प्रस्फुटित हो जाती है।

सहनशीलता हो व्यक्ति की पहचान

यदि व्यक्ति सहन करना सीख जाए, तो प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी अनुकूल हो जाती हैं। थोड़ी समस्या आए, कठिनाई आए और व्यक्ति इस भाषा में बोल जाए—'मैं अब काम नहीं करूँगा। मैं ऐसी स्थिति में काम कर ही

नहीं सकता।' यह व्यक्ति की पहचान नहीं होनी चाहिए। क्योंकि इस दुनिया में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो कार्य न करता हो। प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करना होता है। जीवन चलाने के लिए कार्य करना जरूरी है। हम किसी व्यक्ति के संदर्भ में यह नहीं मान सकते कि वह कार्यकर्ता नहीं है।

स्वार्थ की सीमा

आज 'कार्यकर्ता' शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त है। शब्द के अर्थ दो प्रकार के होते हैं—प्रवृत्तिलभ्य अर्थ और व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की दृष्टि से देखें तो सब कार्यकर्ता हैं। प्रवृत्तिलभ्य अर्थ से देखें, तो जो दूसरों के लिए करता है, वह कार्यकर्ता है। अपने लिए सब करते हैं, किन्तु सब कार्यकर्ता नहीं कहलाते। जो अपना स्वार्थ छोड़कर दूसरों के लिए खपता है, अपना पसीना बहाता है, वह कार्यकर्ता कहलाता है।

बहुत कठिन है अपने स्वार्थ की सीमा से बाहर निकलना। व्यक्ति अपने स्वार्थ की सीमा में रहता है। वह अपने लिए करता है, अपने घर और अपने परिवार के लिए करता है, जहाँ अपनापन जुड़ा हुआ है, वहाँ काम करता है। जब व्यक्ति अपनेपन की सीमा से परे 'पर' के लिए कार्य करता है, तब कार्यकर्ता शब्द जन्म लेता है।

स्वार्थ और परमार्थ

कार्यकर्ता की पहली पहचान स्वार्थ से ऊपर उठना है। कार्यकर्ता वह होता है, जो स्वार्थ से ऊपर उठना जानता है। स्वार्थ का त्याग करना बहुत कठिन साधना है। अनेक लोग जो बड़े-बड़े पदों पर पहुँच जाते हैं, सत्ता, उद्योग, शासन और प्रशासन के उच्च शिखर को छू लेते हैं, किन्तु वे 'स्व' की सीमा को नहीं तोड़ पाते। बड़ा होना, बड़े पद पर चले जाना, एक बात है और स्वार्थ की सीमा से बाहर निकलना अलग व दूसरी बात है। प्रशिक्षण के बिना, परमार्थ की चेतना को जगाए बिना स्वार्थ की सीमा का बोध जागृत नहीं हो सकता।

मानव मस्तिष्क की क्षमता अनंत और असीम है। अनेक क्षमताओं के प्रकोष्ठ मस्तिष्क में बने हुए हैं। इस मस्तिष्क में इतने प्रकोष्ठ हैं, जिनकी सामान्य मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता। लाखों-करोड़ों प्रकोष्ठ हमारे मस्तिष्क में विद्यमान हैं। जिस मकान में आठ-दस कमरे होते हैं, उसे बड़ा

मकान माना जाता है। जिस मकान में चालीस से अधिक कमरे होते हैं, उसे विशाल महल माना जाता है, किन्तु हमारे मस्तिष्क में जितने प्रकोष्ठ हैं, उतने किसी मकान में नहीं हैं। बहुत बड़े कॉलेज, सचिवालय और विश्वविद्यालय में भी उतने कमरे नहीं हैं, जितने प्रकोष्ठ हमारे मस्तिष्क में हैं।

कार्यकर्ता के प्रशिक्षण का पहला बिंदु है—स्वार्थ का जो कोष्ठ खुला है, उसे बंद कर दें। परार्थ और परमार्थ का जो कोष्ठ बंद पड़ा है, उसे खोल दें।

आज स्वार्थ का दरवाजा इतना चौड़ा हो गया है कि उसे पूरा बंद करना बहुत कठिन है, किन्तु यदि वह दरवाजा थोड़ा संकीर्ण हो जाए, परार्थ का दरवाजा कुछ उद्घाटित हो जाए, तो मनुष्य में परार्थ और परमार्थ की चेतना को जगाया जा सकता है। यही प्रशिक्षण का प्रथम बिंदु है।

समाज में संवेदनशीलता

प्रशिक्षण का दूसरा बिंदु है—संवेदनशीलता का विकास। समाज का अर्थ है संवेदनशीलता। यह एक ऐसा धागा है, जो समाज को बनाए रखता है, एकता के सूत्र में बाँधे रखता है। दूसरे की कठिनाई को अपना मानना, समस्या और उलझन को अपना मानना, यह संवेदनशीलता ही है। यह कठिनाई पड़ोसी की नहीं, मेरी है और इसका समाधान मुझे ही करना है। यदि ऐसी संवेदनशीलता जाग जाए, तो समाज का उत्थान होने के साथ ही अलगाव की भावना समाप्त हो जाएगी।

यदि व्यक्ति यह सोचने लगे कि समाज से मुझे क्या लेना-देना है? समाज का काम समाज जाने, तो समाज कभी बनता ही नहीं। समाज के साथ समन्वय से संवेदनशीलता प्रखर होती है। अनेक लोग प्रार्थना करते हैं, पूजा करते हैं, किन्तु बहुत कम लोग अपने इष्ट के साथ एकाकार हो पाते हैं।

स्वभाव और सहनशीलता

प्रशिक्षण का तीसरा बिंदु है—सहनशीलता का विकास। कार्य-कौशल का बहुत बड़ा अंग है सहनशीलता। जो व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र में काम करेगा, उसे बहुत कुछ सुनना पड़ेगा। एक गृहस्थ को ही नहीं, साधु को भी सुनना और सहन करना होता है। साधु भी तो कार्यकर्ता ही है। जिसने अपना स्वार्थ छोड़ा है, जो दूसरों के कल्याण में कार्यरत है, वह साधु भी कार्यकर्ता ही है।

तीन निर्देश

महावीर ने मुनि को स्वार्थ की बात नहीं सिखाई। उन्होंने यह नहीं कहा कि तुम केवल अपना कल्याण कर लो। मुनि के लिए महावीर ने कहा—तिन्नाणं तारयाणं, तुम स्वयं तरो, पर अकेले नहीं, दूसरों को भी तारो। स्वयं बुद्ध बनो, पर अकेले नहीं, दूसरों को भी बोधि दो। स्वयं मुक्त बनो, समस्याओं से मुक्ति पाओ, पर अकेले नहीं, दूसरों को भी समस्याओं से मुक्त करो।

महावीर के ये तीन निर्देश बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—

- स्वयं तरो, दूसरों को तारो ● स्वयं बुद्ध बनो, दूसरों को बोधि दो।
- स्वयं समस्या से मुक्ति पाओ, दूसरों को भी समस्याओं से मुक्ति का मार्ग दो।

संक्रमणशील है संसार

दुनिया में कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता। हम यह मान लेते हैं कि जो हिमालय की गुफा में बैठा है, वह अकेला है, पर वह भी वास्तव में अकेला नहीं है। क्या वह ऑक्सीजन नहीं ले रहा है? क्या वह प्राणवायु नहीं ले रहा है? हमारा संसार इतना संक्रमणशील है कि कोई अकेला रह ही नहीं सकता। मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के पुद्गल सारे संसार में फैलते हैं और सबको प्रभावित करते हैं। प्रशिक्षण का सूत्र यह है कि हम सहन करना सीखें। आचार्य भिक्षु ने कितना सहा। उनका सारा जीवन सहिष्णुता का प्रतीक है। वचनों के प्रहार, गालियाँ, अपमान और मुक्कों की मार, सब कुछ सहा। बहुत सहा, लेकिन किसी पर भी आक्रोश नहीं किया। हम आचार्य भिक्षु की अनेक विशेषताएँ जानते हैं, किन्तु उनकी सबसे बड़ी विशेषता है—सहिष्णुता। कहा गया है 'खमा सूरा अरहंता', तीर्थंकर क्षमाशूर होते हैं। भगवान महावीर ने कितना सहन किया। आचार्य भिक्षु ने भी क्या-क्या नहीं सहा।

सहिष्णुता का कवच

कार्यकर्ता को सहिष्णु और वज्रपंजर बनना चाहिए। मंत्र साधक मंत्र की साधना से पहले पंजर की साधना करता है। जो वज्रपंजर या कवच की साधना में सफल नहीं हो सकता, उसे मंत्र की साधना में बहुत समस्याएँ आती हैं, विघ्न और बाधाएँ आती हैं। यदि व्यक्ति वज्रपंजर का निर्माण कर लेता है, तो फिर चाहे भूत आए, पिशाच आए या राक्षस आए, कोई भी उसे भेद कर प्रवेश नहीं कर सकता।

कार्यकर्ता के लिए सहिष्णुता का वज्रपंजर बनाना जरूरी है। जब तक कार्यकर्ता सहनशील नहीं होगा, वह धैर्य और शांति का परिचय नहीं दे पाएगा। अनेक व्यक्ति थोड़ी-सी विपरीत स्थिति आते ही अधीर और विचलित हो जाते हैं। व्यक्ति सोचता है कि अमुक व्यक्ति ने मेरा अपमान कर दिया, मैं अब सभा में जाना बंद कर दूँगा, संगोष्ठी में कभी भाग नहीं लूँगा। हमें अतीत को देखना चाहिए। अपमान किसका नहीं हुआ ?

विचार का परिष्कार

कार्यकर्ता के जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आते हैं। तिरस्कार व पुरस्कार के क्षण आते और जाते रहते हैं। इन सभी को सह लेना ही कार्यकर्ता की कसौटी है। कार्यकर्ता को सोचना चाहिए कि यह घरेलू मामला है, समाज का प्रश्न है, यहाँ असहिष्णुता काम नहीं देगी। मधुर और मृदुभाषा से ही इन स्थितियों से बचा जा सकता है। सहिष्णुता का प्रशिक्षण व्यक्ति के विचारों का परिष्कार कर देता है। उसे मृदु और मधुर बनने की अभिप्रेरणा देता है।

प्रशिक्षण का मूल्य

कार्यकर्ता के प्रशिक्षण के लिए इन तीन बातों पर ध्यान देना अपेक्षित है— १. परार्थ की चेतना का विकास। २. संवेदनशीलता की चेतना का विकास। ३. सहिष्णुता की चेतना का विकास।

कार्यकर्ता इनके प्रकोष्ठों को जागृत करने की विधि समझ सकें, तो उन्हें यह अनुभव होगा कि कुछ नया घटित हो रहा है। संवेदनशीलता, करुणा और सहिष्णुता के विकास का पथ प्राप्त हो रहा है। उपलब्धि का यह नवीन अनुभव और आत्मबोध ही कार्यकर्ता को सही अर्थ में कार्यकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित कर सकता है। कार्यकर्ता प्रशिक्षण क्यों? इस प्रश्न का उत्तर प्रशिक्षण की इस साधना में ही छिपा है। हम इसका मूल्यांकन करें, प्रशिक्षण का मूल्य स्वतः स्पष्ट होता चला जाएगा।



स्वर्णिम सूत्र



सहन करने की शक्ति का विकास होगा,
तभी मैत्री का अनुभव होगा।



करके देखें

● ऑटोसजेशन का प्रयोग

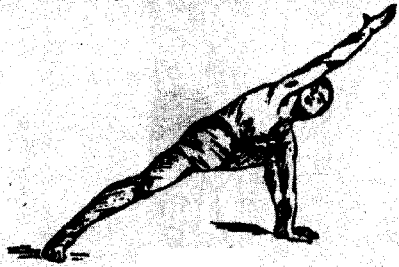
रात्रि में सब कार्यों से निवृत्त होकर जब सोएं, शरीर रिलेक्स हों, आंखें कोमलता से बंद हों, 'मेरी सहनशक्ति का विकास हो रहा है' उक्त शब्दावली को नींद न आये तब तक दोहराते रहें। प्रयोग में नीरंतरता बनी रहे, जिससे १ महिने के बाद स्वयं में बदलाव महसूस करेंगे।

● मंत्र का प्रयोग

ॐ ऐं ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूणं—प्रतिदिन पूर्वाभिमुख होकर १०८ जप करें। प्रत्येक पद के उच्चारण के साथ नए वस्त्र के एक-एक गांठ लगाएं।
परिणाम—पारस्परिक सौहार्द का विकास होता है।

● आसन-प्राणायाम

त्रिकोणासन—दोनों पैरों को फैलाकर सीधे खड़े रहें। बाएं पाव के पंजों को बाईं तरफ सीधा करें। पूरक करते हुए बाएं पंजे के पास बायां हाथ रखते हुए घूटने को मोड़े। दाहिने हाथ को धीरे-धीरे ऊपर ले जाएं। बांह कानों को स्पर्श करेगी। कमर, कंधे और गर्दन को बाईं ओर झुकाएं। हाथ भी बाईं ओर सीधा झुकेगा। रेचन करते हुए कुछ क्षण रुकें। पूरक कर कमर और गर्दन को सीधा करें। हाथ को धीरे-धीरे शरीर के सामने ले जाएं। बाईं ओर से बाएं हाथ को फैलाकर कोण बनाएं।



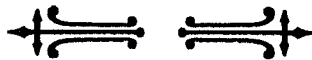
इसी प्रकार दाएं पैर और दाएं हाथ की ओर भी करें। समय सीमा का ध्यान रखें। एक आवृत्ति में प्रारंभ में १ मिनट का समय लगे। अभ्यास के बाद तीन मिनट तक ले जा सकते हैं।

लाभ—फेफड़े सुदृढ़ और शरीर में कांति की अभिवृद्धि होती हैं।

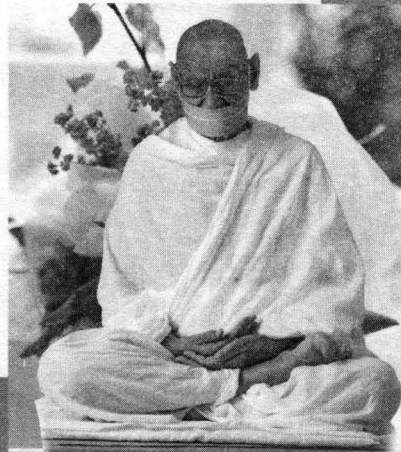
❦ अध्याय कहता है ❦

जो सहनशील होता है—

- वह अपनी शक्ति को पहचानता है।
- वह दूसरों की हरकतों को सहन करता है।
- वह पारिवारिक सौहार्द स्थापना में सहायक बनता है।
- वह परमार्थ की चेतना का विकास करता है।
- वह संवेदनशील कार्यकर्ता के रूप में पहचान रखता है।
- वह मान-अपमान को सहन करता है।
- वह मृदुभाषी होता है।
- वह व्यवहार-कुशल होता है।
- वह कार्य-कुशल होता है।



‘परिवर्तन एक प्रकार का नहीं होता। उसके दो प्रकार हैं। एक है स्वाभाविक परिवर्तन, सहज में होने वाला परिवर्तन और दूसरा है यौगिक परिवर्तन, निमित्तों से होने वाला परिवर्तन।’,



अध्याय

२

ध्यान करने वाला व्यक्ति अपने प्रति बहुत जाग जाता है। अपने प्रति बहुत जागना स्वतन्त्रताक नहीं है। दूसरे के प्रति बहुत जागना स्वतन्त्रताक है। आज दुनियां में जितने बड़े स्वतन्त्रे हैं, उनको उन्हीं लोगों ने पैदा किया है, जो खुद को नहीं जानते, केवल दूसरों को जानने में ही लगे रहते हैं।

ध्या

न की साधना ज्योति की साधना है, प्रकाश की साधना है। मनुष्य प्रकाश चाहता है। वह कभी अंधकार नहीं चाहता। इसलिए वह प्रकाश की साधना करता है। वह चाहता है कि भीतर का तमस भाग जाए। अंधकार मिट जाए। जीवन में प्रकाश जैसे-जैसे उभरता जाता है, वैसे-वैसे अंधकार भाग जाता है। जीवन में प्रकाश होना भी संभव है और अंधकार होना भी संभव है। दोनों संभव है, इसलिए संभव है कि विश्व का सार्वभौम नियम है परिवर्तन। जैसे अपरिवर्तन एक शाश्वत नियम है, वैसे ही परिवर्तन भी शाश्वत नियम है।

द्रव्य और पर्याय

अनेकांत ने तत्त्व की व्याख्या की। तत्त्व के दो पहलू हैं। एक है द्रव्य और दूसरा है पर्याय। द्रव्य मूल में होता है और पर्याय ऊपर होता है। परिवर्तन

के बिना कोई अपरिवर्तनीय नहीं होता और अपरिवर्तन के बिना कोई परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन और अपरिवर्तन दोनों साथ-साथ चलते हैं। एक मूल में रहता है और एक फूल में रहता है। फूल हमें दिख जाता है। मूल गहरे में होता है। सामने नहीं दिखता। कभी-कभी कुछेक लोग मूल को उखाड़ने का प्रयत्न करते हैं। वे परिवर्तन को स्वीकार करते हैं। मूल को अस्वीकार करते हैं। कभी-कभी कुछेक लोग मूल पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर देते हैं और सामने दिखने वाले फूल को अस्वीकार कर देते हैं। यह एकांगी दृष्टिकोण है।

अनेकांत ने दोनों को स्वीकृति दी। मूल का भी मूल्य है और फूल का भी मूल्य है। मूल को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और फूल को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कुछेक लोग फूल को नहीं, मूल को ही उखाड़ देते हैं।

मूल और फूल

शहर के पास सुन्दर बगीचा था। उसमें एक स्थान पर लिखा था—फूल तोड़ना मना है। एक बालक आया। उसने मूल को ही उखाड़ना चाहा। माली ने देख लिया। वह दौड़ा-दौड़ा आया और बोला—‘अरे! क्या कर रहे हो? देखो क्या लिखा है?’ बालक ने कहा—‘लिखा हुआ पढ़ लिया। लिखा है कि फूल तोड़ना मना है। मैं फूल नहीं मूल को ही उखाड़ रहा हूँ।’

जब मूल को उखाड़ दिया जाता है, तब फूल के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं आता। हम मूल को अस्वीकृत नहीं कर सकते। हमारा जीवन एक फूल है, दिखाई देता है। वह जीवन अनबूझ पहेली बना हुआ है। जीवन की अनेक व्याख्याएँ हुई हैं, किन्तु बहुत सारी व्याख्याएँ फूल की व्याख्याएँ हैं। फूल तक पहुँचने वाली व्याख्याएँ हैं। मूल तक नहीं जाने वाली व्याख्या अधूरी होती है। फूल खिलता है, कुम्हला जाता है, गिर जाता है। आज खिलता है, कल कुम्हला जाता है। सारा परिवर्तन होता जाता है। मूल की व्याख्या किए बिना केवल फूल की व्याख्या करना बहुत खतरनाक होता है।

जीवन का आधार

हम जीवन को समझें। जीवन क्या है? जो दीख रहा है, वही केवल जीवन नहीं है। जीवन के मूल में दो तत्त्व निरंतर काम करते रहते हैं। एक है द्रव्य और दूसरा है पर्याय। ज्ञान द्रव्य भी है और पर्याय भी है। ज्ञान एक भी है और अनेक भी है। ज्ञान स्वावलम्बी भी है और परावलम्बी भी है। उसमें अपने आपमें जानने की निरन्तर क्रिया होती रहती है। ज्ञान जब दो के रूप में बदलता है तब परावलम्बी बन जाता है।

अपने आप में जानने की क्रिया अपेक्षा से ज्ञान एक है। दो के आधार पर बदलते हुए पर्यायों को जानने वाला ज्ञान अनेक बन जाता है।

ज्ञान नित्य है अनेक स्वरूप में। बदलते हुए पर्यायों को जानने वाला ज्ञान अनित्य हो जाता है।

हमारे जीवन का पहला पक्ष है—ज्ञान। जीवन का मूल आधार है ज्ञान। जीवन का दूसरा पक्ष है—पर्याय। वह निरंतर बदलता रहता है। पर्याय एक प्रकार का नहीं होता। परिवर्तन एक प्रकार का नहीं होता। उसके दो प्रकार हैं। एक है स्वाभाविक परिवर्तन, सहज में होने वाला परिवर्तन और दूसरा है यौगिक परिवर्तन, निमित्तों से होनेवाला परिवर्तन, संयोग और संबंधों से फलित होने वाला परिवर्तन। स्वाभाविक परिवर्तन पर किसी का अधिकार नहीं होता। वह स्वाभाविक रूप से घटित होता है। न उसे रोका जा सकता है और न उसे बदला जा सकता है। वह पदार्थ का अपना अस्तित्व है। वह अस्तित्व से जुड़ा हुआ परिवर्तन है। वह परिवर्तन इसलिए होता है कि पदार्थ दूसरे क्षण में अपना अस्तित्व बनाए रख सकें। पहले क्षण का पदार्थ दूसरे क्षण में बना रह सके, इसके लिए परिवर्तन अपेक्षित होता है। यदि कोई भी पदार्थ क्षण में न बदले, तब उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। पदार्थ क्षण-क्षण बदलता है। यह स्वाभाविक परिवर्तन है। यह स्वतः चलित पर्याय है। यह पदार्थ का स्वतः चालित नाड़ी-संस्थान है। दूसरा है ऐच्छिक पर्याय, निमित्तों से होने वाला पर्याय।

परिवर्तन का हेतु

ध्यान की साधना परिवर्तन की साधना है, बदलने की साधना है। ध्यान

करने वाला साधक बदलने के लिए आता है। अगर बदलने की बात न हो तो ध्यान के प्रति इतना आकर्षण नहीं होता।

आदमी में बदलने की मनोवृत्ति होती है। कोई भी एक रूप रहना नहीं चाहता है। युवक भी सदा युवक नहीं रहता, बूढ़ा होता है। जैसे यौवन का अपना स्वाद है, वैसे ही बुढ़ापे का अपना मजा है, स्वाद है। जिस व्यक्ति ने बुढ़ापे का अनुभव नहीं किया, बुढ़ापे के सुख का अनुभव नहीं किया, वह नहीं जान सकता कि बुढ़ापे में क्या स्वाद है? यौवन में जो हलचल सताती है, जो समस्याएँ परितप्त करती हैं, अपरिपक्वता के कारण जो कठिनाइयाँ आती हैं, वे सब बुढ़ापे की सीमा में प्रवेश करते ही समाप्त हो जाती हैं। वह तब जान पाता है कि बुढ़ापे का सुख क्या है? आनन्द क्या है? सुख न बचपन में है, न यौवन में है और न बुढ़ापे में है। यदि सुख कि चाबी हस्तगत हो जाए तो बचपन में बहुत सुख है, जवानी में भी बहुत सुख है और बुढ़ापे में भी बहुत सुख है। जो बुढ़ापे तक नहीं पहुँचा, वह नहीं जान पाएगा कि बुढ़ापे में क्या सुख है? बुढ़ापे तक हम भी नहीं पहुँचे हैं, परन्तु उसमें होनेवाले सुख को जानते हैं। प्रत्येक व्यक्ति हर अवस्था के अनुभव में जा सकता है, उसमें से गुजर सकता है।

दुःख : यथार्थ व अयथार्थ

हम परिवर्तन के सिद्धान्त को समझ कर चलें। प्रत्येक आदमी परिवर्तन चाहता है। ध्यान की समूची प्रक्रिया बदलने की प्रक्रिया है। मैंने देखा जो आदमी दस वर्षों तक नहीं बदल पाए, वे ध्यान शिविरों में बदल गए। आदमी का स्वभाव बदलता है। आदमी की आदतें बदलती हैं। आदमी के जीवन में अनेक परेशानियाँ होती हैं। क्रोध की और अहंकार की परेशानी है, भय और माया की परेशानी है। यदि हम वस्तुस्थिति में जाएँ, सच्चाई के निकट जाएँ तो पता चलेगा कि पच्चीस प्रतिशत दुःख यथार्थ होता है और शेष पचहत्तर प्रतिशत दुःख हमारे अज्ञान, हमारी धारणाओं, मान्यताओं और कल्पनाओं के कारण होता है। उसे हम भोगते हैं। यदि हम सत्य के निकट जाएँ या सत्य की सीमा में प्रवेश करें, तो पचहत्तर प्रतिशत दुःख अपने आप समाप्त हो जाता है। एक क्रोधी आदमी स्वयं दुःख पाता है। वह स्वयं ही दुःखी नहीं होता, सारे परिवार को भी दुःखी बना देता है।

क्रोध की आग

वास्तव में प्रत्येक आदमी बदलना चाहता है। क्रोधी आदमी स्वयं चाहे या न चाहे, परिवार वाले अवश्य चाहते हैं कि वह बदल जाए, उसका क्रोध छुट जाए, क्योंकि वह सबको दुःख देता है। वह स्वयं दुःख को भोगता है और दूसरों को भी दुःखी बनाता है। आग स्वयं जलती है और दूसरों को भी जलाती है। आग पर कुछ भी रखो, वह उबलने लग जाता है। आग जलती है, सारे ईंधन को जला देती है। शेष केवल राख बचती है। शिविरों में पचास प्रतिशत साधक स्वयं की प्रेरणा से आते हैं और पचास प्रतिशत आसपास की प्रेरणाओं से आते हैं। लाभ उठाए हुए लोग प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि जाओ, बदलो। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर अनेक साधक आते हैं और बदल जाते हैं।

परिवर्तन एवं परिस्थिति

विश्व का समूचा विकास, सभ्यता और संस्कृति का पूरा विकास, परिवर्तन का विकास है। जो जैसे हैं, वैसे ही रहें तो विकास संभव नहीं होता। मेरे सामने लोग कपड़े पहने बैठे हैं। रूई पौधे पर लगी, रूई बनी, रूई से धागा बना, धागे से कपड़ा बना, तो कपड़े पहने हुए बैठे हैं। सारा परिवर्तन हुआ है। अगर रूई को ही पहने होते तो काम बनता नहीं। धागों को तो पहना ही नहीं जा सकता। कपड़े से सर्दी रुकती है, गर्मी का बचाव होता है, वर्षा से बचा जा सकता है। इसके पीछे पूरे परिवर्तन की कहानी है। रोटी खाते हैं, पर कोरे गेहूँ नहीं चबाते। कोरे चने नहीं चबाते, रोटी बनाकर खाते हैं। पूरा परिवर्तन होता है, उसके बाद घी खाते हैं, मक्खन खाते हैं। कितनी मेहनत करनी होती है। दूध को जमाना पड़ता है। दही को बिलौना होता है, तब मक्खन मिलता है, घी मिलता है। हमारे जीवन की सारी प्रक्रिया, पदार्थ के विकास की सारी प्रक्रिया, परिवर्तन की प्रक्रिया है, बदलाव की प्रक्रिया है। जो जैसा है, वैसा नहीं रहता, हर वस्तु को बदलना होता है।

मनुष्य अपनी परिस्थिति को बदलता है और वातावरण को भी बदलता है। वातावरण को ऐसे ही नहीं छोड़ देता। परिस्थिति को जो जैसा है, वैसे ही नहीं छोड़ देता। उसे बदलने का प्रयत्न करता है, मनुष्य का पूरा पुरुषार्थ और पूरा प्रयत्न बदलने में लगा है। वह आगे बढ़ा है। यदि बाहरी परिस्थिति को न

बदला जाए तो काफी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। मनुष्य ने बाहरी परिस्थिति को बदलने का भी उपक्रम किया है। बाहर के वातावरण को भी बदलने की चेष्टा की है। यदि अंधकार को नहीं बदला जाता, तो प्रकाश उपलब्ध नहीं होता। प्रकाश से रात में भी दिन हो जाता है। मनुष्य के पुरुषार्थ से ऐसा हो सकता है। मनुष्य ने बहुत प्रयत्न किए हैं। कभी पत्थरों से आग जलाई, कभी अरणी की लकड़ी से आग जलाई और कभी बिजली जलाई। साधनों के परिवर्तन से वह अंधकार को भी प्रकाश में बदल देता है। अंधकार एक परिस्थिति है। उस परिस्थिति को बदलने का प्रयास किया, प्रकाश उपलब्ध हो गया। बाहरी वातावरण को बदलने का प्रयत्न हुआ है, इसीलिए आदमी गर्मी में सर्दी की स्थिति पैदा कर सकता है। ये सारे पंखे, कूलर इसीलिए तो बने हैं कि गर्मी की परिस्थिति को बदल दिया जाए। यह हीटर इसीलिए तो बना कि सर्दी की परिस्थिति को बदल दिया जाए। यह वातानुकूलन इसीलिए तो आविष्कृत हुआ कि परिस्थिति को बदल दिया जाए, गर्मी में सर्दी और सर्दी में गर्मी। मौसम की एकरूपता बना दी जाए। यह सारा विकास बदलने का विकास है। मनुष्य ने बाहरी परिस्थितियों को बदलने में काफी प्रयत्न किया है। उसने उसे बदला है और बहुत हद तक सफल भी हुआ है। जिसकी संभावना और कल्पना नहीं थी, उस स्थिति को भी वह बदल चुका है और आगे बढ़ रहा है।

दूसरा प्रश्न आता है, आन्तरिक परिस्थिति को बदलने का। बाहरी परिस्थिति के बदलाव में जितनी सफलता मिली है, उतनी सफलता आन्तरिक परिस्थिति के बदलाव में अभी नहीं मिली है। रसायनों को बदला जा सकता है। अन्तःस्रावी ग्रंथियों से जो स्राव झरते हैं, वे रसायन बदले जा सकते हैं, किन्तु उन्हें बदलने में अभी डॉक्टरों को भी सफलता नहीं मिली है। मेडिकल साइंस में यह माना गया है कि अन्तःस्रावी ग्रंथियों के स्रावों में परिवर्तन करने के पर्याप्त साधन अभी उपलब्ध नहीं हुए हैं। उन्हें नहीं बदला जा सकता। भावों को नहीं बदला जा सकता, विचारों को नहीं बदला जा सकता। अभी बड़ी कठिनाइयाँ हैं। मनुष्य आन्तरिक परिस्थिति को बदलने में स्वयं को अक्षम अनुभव करता है और एक बहुत बड़ा बहाना मिल जाता है कि हम क्या करें? बुरे विचार आते हैं, पर क्या करें? यह तो नियति की बात है, बुरे भाव आते हैं, हम क्या करें? यह हमारे वश की बात नहीं। बुरी कल्पनाएँ आती हैं,

हमारा कोई वश नहीं। आदमी खुद को विवश अनुभव करता है और एक बहाना भी बहुत अच्छा है कि बुरा-अच्छा जो जैसा होता है, वैसा नियति से होता है, भीतर की प्रेरणा से होता है। उसमें हमारा तो कोई नियंत्रण नहीं है। क्यों दोष दिया जाए? एक चोर को क्यों दोषी माना जाए? एक डाकू को, लुटेरे को क्यों दोषी माना जाए? वह बेचारा करता क्या है? जैसी उसकी भीतरी प्रेरणा होती है, जैसा उसका भीतर का रसायन होता है, वैसा व्यवहार और आचरण उसे करना होता है, तो फिर उसे क्यों दोषी माना जाए? उसकी विवशता है, उसके वश की बात नहीं है। यह एक बहाना मिल जाता है और बहाना खोजना तो आदमी बहुत जानता है। बहाना खोजने में तो आदमी इतना निपुण है कि हर बात में वह बहाना खोज ही लेता है।

एक आदमी बैठा था। गाँव में मंदिर बन रहा था। सब लोगों ने निर्णय लिया कि मंदिर बनाना है, पर मजदूरों की जरूरत नहीं है। गाँव के सब लोग अपना श्रम लगाएँगे और मंदिर का निर्माण करेंगे। सारा गाँव मंदिर के निर्माण में जुट गया। एक आदमी निकम्मा बैठा है। दूसरे लोग पहुँचे। उन्होंने कहा, 'तुम्हें पता नहीं मंदिर बन रहा है और सबको काम करना है! चलो, मंदिर के काम में लगें।' वह बोला, 'क्या करूँ, सबके पेट भरे हैं और मेरा पेट खाली है। मैं कैसे काम कर सकता हूँ। भला खाली पेट वाला आदमी कैसे काम करेगा? कैसे अपनी शक्ति लगाएगा?' लोगों ने कहा, 'बेचारा ठीक कहता है, पेट खाली है तो काम कैसे करेगा?' श्रमिक को तो और ज्यादा खाने को चाहिए। उसे पेट भरकर रोटियाँ खिला दी। उसने डटकर रोटियाँ खाईं। फिर कहा गया, चलो, काम पर चलें। वह बोला, 'मैं कैसे जा सकता हूँ? मैं तो अब काम नहीं कर सकता। पेट इतना भर गया कि काम करने की स्थिति में नहीं हूँ।'

पेट खाली है तो भी काम करने की स्थिति में नहीं है, पेट भर गया तो भी काम करने की स्थिति में नहीं है। दोनों ओर हमारे बहाने हैं। दाएँ, बाएँ, आगे, पीछे, चारों ओर बहाने हैं। बहाना खोजा जा सकता है, पर जो व्यक्ति

विकास की अवस्था में जाना चाहता है, वह बहानेबाजी नहीं करता, वह प्रयत्न करता है। परन्तु कम ही लोग होते हैं, जो प्रयत्न करते हैं। गीता का एक बहुत सुंदर वचन है—‘मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।’ हजारों मनुष्यों में कोई एक ऐसा निकलता है, जो सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। आप न मानें कि सिद्धि दुर्लभ होती है। हर आदमी सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। हमारे सामने साध्य हैं, साधन हैं, तो सिद्धि हो सकती है। साध्य, साधन और सिद्धि, यह त्रिवेणी जुड़ी हुई है। इसको अलग नहीं किया जा सकता। जिस आदमी ने कोई साध्य बना लिया, ठीक साधन चुन लिया तो सिद्धि अवश्य मिलेगी। सिद्धि के लिए ज्यादा चिंता की जरूरत नहीं होती। चिंता करने की जरूरत होती है साध्य और साधन की। सिद्धि तो परिणाम है। वह तो अपने आप मिलेगी। हम परिणाम के लिए सोचते हैं, यह हमारी समझदारी नहीं है। हमें परिणाम की चिंता नहीं करनी चाहिए। अभी-अभी एक भाई मेरे पास आया। आकर बोला कि अमुक बीमारी है। क्या ध्यान करने से लाभ हो सकता है? बहुत बार यह प्रश्न आता है। मैं मन ही मन सोचता हूँ और कभी-कभी कहता भी हूँ कि यह शिविर स्थल कोई चिकित्सालय तो नहीं है? पर मानता हूँ कि जो बीमारियाँ हैं, वे यहाँ ठीक हो सकती हैं। मन ठीक है तो बीमारी भी ठीक होने लग जाती है, हो भी जाती है, और हो ही जाती है। तीनों स्थितियाँ बनती हैं। सबसे पहली बात है कि मन ठीक कैसे बने? हमारी आन्तरिक स्थिति कैसे बदले? अगर आन्तरिक स्थिति बदलती है तो बाहरी परमाणु भी बदलने लग जाते हैं। समस्या है आन्तरिक स्थिति बदलने की। हम बहुत बार बाहर कारण नहीं खोज पाते, कारण भीतर होता है।

कुत्ता मिला, आदमी दौड़ने लगा। आगे-आगे आदमी दौड़ता है और पीछे-पीछे कुत्ता दौड़ता है। ऐसा एक बार नहीं होता, बहुत बार होता है। खोजा गया कि कारण क्या है? आगे आदमी दौड़ता है और पीछे कुत्ता दौड़ता है, इसका कोई कारण तो होना चाहिए। एक वैज्ञानिक खोज हुई। बड़ी महत्वपूर्ण खोज हुई। वैज्ञानिकों का कहना है कि आदमी डर के मारे दौड़ रहा है। जब डर की स्थिति में होता है, तब एड्रीनल ग्रंथि बहुत सक्रिय हो जाती है। एड्रीनल का स्राव बहुत ज्यादा होने लगता है और उसकी गंध चारों तरफ फैलती है। कुत्ता तो गंध को बहुत दूर से पकड़ता है। कुत्ते जितनी प्रबल

घ्राणशक्ति किसी की नहीं होती। उसकी घ्राणशक्ति इतनी प्रबल होती है कि वह गंध के सहारे सैकड़ों मील तक चला जाता है। आज भी कुत्तों का उपयोग अपराधियों और हत्यारों को पकड़ने में किया जाता है। आदमी नहीं पकड़ पाता। कुत्ते पकड़ लेते हैं, गंध के सहारे से। उसमें गंध-विश्लेषण की शक्ति है। अपराध के स्थान पर जो गंध है, वह किस आदमी की गंध है, उस गंध को पकड़ते-पकड़ते वे कुत्ते अपराधी को पकड़ लेते हैं और उसके पास जाकर घूमने लग जाते हैं, चक्कर काटने लग जाते हैं। बड़ी तेज होती है उनकी घ्राणशक्ति। आदमी जैसे-जैसे भागता है, एड्रीनल ग्रंथि का स्राव ज्यादा होता है। गंध फूटती है और उसी के सहारे कुत्ता भी दौड़ता है। अब बाहरी कारण खोजें तो पता नहीं चलेगा। कारण की खोज भीतर करनी होती है। बाहरी कारण तो ऐसा ही लगता है कि कुत्ता काटने दौड़ता होगा। आदमी इस डर से भागा जा रहा है कि कुत्ता काटने आ रहा है और कुत्ता इस प्रलोभन से भाग रहा है कि बड़ी अच्छी गंध आ रही है। एक के सामने प्रलोभन है, दूसरे के सामने भय है।

दुनिया में दो ही अपराध हैं। एक भय का अपराध और दूसरा प्रलोभन का अपराध। कोई आदमी डरकर काम कर रहा है और कोई लालच से काम कर रहा है। हमारी सारी सामाजिक प्रेरणाएँ, इन दो सीमाओं में काम कर रही हैं।

स्वयं पर स्वदृष्टि

व्यक्ति शरीर की सीमा में जीता है। यह शरीर एक प्राकृतिक सीमा है। कोई भी व्यक्ति शरीर से मुक्त नहीं है और इस सीमा से भी मुक्त नहीं है। जहाँ सीमा होती है, वहाँ कुछ अलग बात बन जाती है। एक व्यक्ति का दूसरे से अलगाव है, चाहे कितना ही नजदीक बैठा हो, कितना ही निकट का संबंधी हो, फिर भी इस अलगाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि शरीर ने एक सीमा बना दी। दो व्यक्ति पास बैठे हैं। दोनों का संवेदन भिन्न-भिन्न हो रहा है। एक चिंता में डूब रहा है, दूसरा प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है। चाहे सगे भाई हैं, पिता-पुत्र हैं, पक्के मित्र हैं, बहुत परिचित हैं और बहुत निकट बैठे हैं, फिर भी दोनों का संवेदन भिन्न-भिन्न चल रहा है। एक बहुत प्रसन्न, दूसरा बहुत अप्रसन्न। यह क्यों? कहा है, 'पत्तेयं विन्नु, पत्तेयं वेयणा।' ज्ञान प्रत्येक का होता है और संवेदन भी प्रत्येक का अपना-अपना

होता है। गुरु का ज्ञान शिष्य के काम नहीं आता। पिता का पुत्र के काम नहीं आता और बड़े भाई का ज्ञान छोटे भाई के काम नहीं आता। जैसे पैसा काम आता है, वैसे ही यदि ज्ञान भी काम आता तो घर में एक ही आदमी पढ़ लेता और शेष आदमी उससे अपना काम चला लेते। फिर शायद इतने स्कूल-कॉलेज नहीं होते, शिक्षण संस्थाओं में इतनी भीड़ नहीं होती। इतनी माथापच्ची भी नहीं होती। कौन पढ़ता? एक पढ़ा हुआ है, सबका काम उसी से चल जाएगा।

ज्ञान अपना-अपना होता है, उसी तरह संवेदन भी अपना अलग होता है। जिस घटना का संबंध पाँच व्यक्तियों से है, पाँचों व्यक्तियों पर उसकी अलग प्रतिक्रिया होगी। एक व्यक्ति एक घटना से इतना पीड़ित हो जाता है कि रोटी हराम हो जाती है, जीवन बड़ा दुःखमय हो जाता है। दूसरा व्यक्ति, जिसका संबंध भी इसी घटना से है, वह इतने में टाल देता है, 'चलो, दुनिया में ऐसा ही होता है।'

एक भाई मेरे पास आकर बोला, 'मुझ पर हर बात का बड़ा प्रभाव होता है। कष्ट का अनुभव करता हूँ। कोई भी बात हो जाती है तो सारे दिन वही दिमाग में चक्कर लगाती है। बड़ा परेशान हूँ। क्या करूँ?' मैंने कहा, 'तुम सूत्र का आलंबन लो, एक सूत्र का उपयोग करो। जो भी घटना घटे, तुम यही कहा करो कि दुनिया में ऐसा ही होता है। यह तो दुनिया का स्वभाव है। इसमें क्या नई बात है, क्या आश्चर्य है?' एक मित्र दूसरे मित्र को ठगे तो आश्चर्य होता है कि मेरे मित्र ने ही मुझे ठग लिया। अरे! तुमने सच्चाई को समझा ही नहीं, मित्र की प्रकृति को समझा ही नहीं। एक मित्र दूसरे मित्र को ठगे, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। यह तो दुनिया की प्रकृति है, उसका स्वभाव है, बस बात समाप्त हो जाती है। जब हम यह मान लेते हैं कि यह होता है, दुनिया में ऐसा होता है, तो फिर कोई कठिनाई नहीं होती।

जीवन के पक्ष और प्रणालियाँ

प्रत्येक व्यक्ति के संदर्भ में बहुत अंतर होता है। यह संवेदन की भिन्नता है, ज्ञान की भिन्नता है, शरीरगत पर्यायों की भिन्नता है। जन्म, शैशव, यौवन, बुढ़ापा, रोग और मृत्यु सब शरीरगत होते हैं। एक व्यक्ति के शरीर में अपना

शैशव, यौवन, बुढ़ापा, जन्म और अपनी मौत होती है। ये सब बातें प्रत्येक में होती हैं, उसकी अपनी होती हैं और यह विभेद हमारा शरीर बनाता है।

हमारे जीवन के दो पहलू बन जाते हैं—एक वैयक्तिक और दूसरा सामाजिक। जो अपना होता है, निजी होता है, वह वैयक्तिक है। हम उस दुनिया में जी रहे हैं, जहाँ संक्रमण होता है, छूत की बीमारियाँ होती हैं। एक बीमारी दूसरों पर आक्रमण कर देती है। विचारों का भी संक्रमण होता है। एक आदमी के मन में एक विचार उठता है और वही विचार आगे हजारों लोगों के मन में उठ जाता है। रोग संक्रमणशील हैं और विचार भी संक्रमणशील हैं। जब संक्रमण के सूत्र से हम जुड़े हुए हैं, तो हम नहीं कह सकते कि हमारा व्यक्तित्व कोरा वैयक्तिक है। यदि केवल वैयक्तिक दृष्टि से ही चिंतन करते हैं, तो हमारा चिंतन सही नहीं हो सकता।

जीवन की दो प्रणालियाँ हैं—एक समाजवादी जीवन की प्रणाली और दूसरी वैयक्तिक जीवन की प्रणाली। समाजवादी प्रणाली का आग्रह है कि व्यक्ति का कोई अलग से मूल्य नहीं है। व्यक्ति पुर्जा है, एक यंत्र है, उसका कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं है। समाजवादी चिंतन के लोग इस बात पर इतना अतिरिक्त बल दे रहे हैं कि व्यक्ति का व्यक्तित्व ही समाप्त होता चला जा रहा है। कोई मूल्य ही नहीं रह गया जीवन का। चाहे जब गोली मार दे, चाहे जब फाँसी पर चढ़ा दे और चाहे जब उसे समाप्त कर दे। मात्र एक उपयोगिता रह गई कि मशीन ठीक काम दे रही है तो काम लें, काम नहीं दे रही है तो बाहर फेंक दें। ऐसा होता है। जापान में पहले ऐसा होता था कि जब माँ-बाप बूढ़े हो जाते, तो उन्हें जंगल में फेंक दिया जाता। बूढ़ा हो गया, अब किसी काम का तो रहा नहीं। आदमी तो ऐसा चाहिए, जो खूब काम कर सके। जो निकम्मा हो गया, वह हमारे किस काम का? फिर वह चाहे माँ हो या बाप। वर्षों तक यह परंपरा चली है जापान में। बूढ़े माँ-बाप को पुत्र स्वयं जंगल में फेंक आते थे। वे सड़ते, मर जाते। कितना विचित्र दृष्टिकोण होता है मनुष्य का! केवल स्वार्थ और स्वार्थ।

दूसरी ओर वैयक्तिक दृष्टिकोण की प्रबलता है। उसमें आदमी अपनी ही सोचता है। अपने ही हित की और अपने ही स्वार्थ की बात सोचता है। खुद से आगे दूसरे की बात सोचने की उसे फुर्सत ही नहीं है।

नितांत व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और नितांत समाजवादी दृष्टिकोण आज समूचे समाज को उलझाए हुए हैं और हमारी समस्याएँ भी उनके साथ उलझी हुई हैं।

हम स्वस्थ चिंतन की चर्चा करते हैं। हम इन दोनों दृष्टियों का समन्वय किए बिना एक स्वस्थ जीवन प्रणाली का सूत्रपात नहीं कर सकते। वर्तमान की उलझनों को देखता हूँ, तो मुझे यही लगता है कि जिन देशों में यह समाजवादी प्रणाली प्रचलित हैं, वहाँ वैयक्तिक स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है।

सच्चा सुख स्वाधीनता

व्यक्ति के लिए तीन बातें बहुत महत्त्वपूर्ण होती हैं—स्वतंत्रता, स्वावलंबन और अपने पुरुषार्थ पर विश्वास। ये व्यक्तिगत जीवन के तीन बड़े सूत्र हैं। मैं इन्हें व्यक्तिगत जीवन के तीन बड़े अवदान मानता हूँ। बड़ी देन है स्वतंत्रता। आदमी जब स्वतंत्र नहीं होता, तो फिर यंत्र और मनुष्य में कोई अंतर नहीं होता। रोटी के लिए, सुविधा के लिए, उपयोगिता के लिए कोई अपनी स्वतंत्रता बेच दे, उससे बड़ी दासता की मनोवृत्ति नहीं हो सकती। हमारे समाज में भी दासों की परम्परा रही है। नौकर अलग होता है, दास अलग होता है। नौकर वेतन लेता है, काम देता है। वह स्थायी नहीं होता। मालिक चाहता है, तो मालिक छोड़ देता है और नौकर चाहता है, तो नौकरी छोड़ देता है। नौकरी है, करे या न करे। किन्तु दासता की एक भयंकर परम्परा थी। व्यक्ति बिक जाता था। गाय को खरीदा, भैंस को खरीदा। खरीदने के बाद गाय और भैंस मालिक की हो जाती हैं। वैसे ही आदमी बिक जाता और मालिक उसे खरीद लेता। अब दास उस मालिक का हो गया, जिसे वह कभी नहीं छोड़ सकता। मालिक चाहे तो मारे, जिंदा रखे, पीटे या सताए, दास उसे कभी नहीं छोड़ सकता था। क्या गुलामी या दासता की मनोवृत्ति कभी छोड़ी जा सकती है? रोटी और सुख-सुविधा के लिए आदमी बिक जाए, यह गुलामी की मनोवृत्ति है। कोई भी मनुष्य इसके लिए बिकना नहीं चाहता, गुलाम बनना नहीं चाहता। अपने स्वतंत्र अस्तित्व को वह कायम रखना चाहता है। दुनिया में जितनी स्वतंत्रता प्रिय है, उतनी शायद कोई और बात प्रिय नहीं होती।

मनुजी ने एक बहुत अच्छी बात कही है—‘सर्व आत्मवशं सुखं, सर्व परवशं दुःखम्।’

उनके सामने प्रश्न था कि सुख और दुःख को कैसे परिभाषित किया जाए? सुख क्या? दुःख क्या? सुख की क्या परिभाषा हो सकती है? किसी कवि ने कह दिया—

सुख-दुःख क्या हैं? मनोभावना, जिसने जैसा कर माना।

मधुकर ने तो अपने मरने को सुखमय जाना।

यह तो एक साहित्यिक परिभाषा है। साहित्यिक मूल्य की परिभाषा साहित्यिक होती है, किन्तु मनुजी ने सुख की बहुत मार्मिक एवं सुंदर परिभाषा दी है—‘सर्व आत्मवशं सुखं,’ अपनी स्वाधीनता ही सुख है। ‘सर्व परवशं दुःखम्,’ परवश होने का नाम ही दुःख है। आदमी परवश हो गया, इसका मतलब है कि उसने दुःख मोल ले लिया। परवश होना और दुःखी होना अलग बात नहीं है। स्ववश होना और सुखी होना, इसमें कोई भेद नहीं है।

परिस्थितिवाद से मुक्ति

मनुष्य का स्वभाव है कि वह दूसरों के बारे में बहुत जानना चाहता है। वह दूसरों को इतना जानने लगा है कि खुद को ही भूल गया है। प्रत्येक घटना और परिस्थिति में हमारा ध्यान अपनी ओर नहीं, बल्कि दूसरों की ओर जाता है। इस एकांगी दृष्टिकोण व चिंतन को बदलने के लिए मैं ध्यान को बहुत महत्त्व देता हूँ।

ध्यान करने वाला व्यक्ति अपने प्रति बहुत जाग जाता है। अपने प्रति बहुत जागना खतरनाक नहीं है। दूसरे के प्रति बहुत जागना खतरनाक है। खुद को जानने में कोई खतरा नहीं है, लेकिन दूसरे को ज्यादा जानना खतरे से खाली नहीं है। स्वयं को जानने वालों ने आज तक कोई खतरा पैदा नहीं किया, किन्तु दूसरों को जानने वालों ने सारे खतरे पैदा किए हैं। आज दुनिया में जितने बड़े खतरे हैं, उनको उन्हीं लोगों ने पैदा किया है, जो खुद को नहीं जानते, केवल दूसरों को जानने में ही लगे रहते हैं।

शस्त्र और परिस्थिति

शस्त्रों का निर्माण क्यों हुआ? दूसरों को जानने के कारण ही उनका

निर्माण हुआ। कारण स्पष्ट है कि कोई दूसरा आक्रमण कर देगा, आएगा, मार डालेगा और लूट लेगा, इसलिए शस्त्रों का निर्माण हुआ। मूल कारण सुरक्षा है। जब-जब दूसरों के प्रति अधिक ध्यान जाता है, तब-तब खतरा मंडराने लगता है। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा बन गया है कि वह 'स्व' का मूल्य नहीं जानता, 'पर' का मूल्य ज्यादा जानता है। 'स्व' का मूल्य नहीं जानता, परिस्थिति का मूल्य ज्यादा जानता है।

अपनी सभी दुर्बलताओं को छिपाने के लिए मनुष्य के पास एक अमोघ शस्त्र है। वह है परिस्थिति। यह शस्त्र अनुभव से भी बड़ा मान लिया गया है। अणुबम बनाने वालों से भी पूछा जाए कि इतने घातक, संहारक शस्त्र का निर्माण क्यों किया? वे कहेंगे कि परिस्थितियों से बाध्य होकर हमें ऐसा करना पड़ा है, अन्यथा हम कभी इसका निर्माण नहीं करते।

आज आदमी परिस्थितिवादी बन गया है। उसने सारा मूल्य परिस्थिति को ही दे डाला। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य छिलके को अधिक मूल्य देता है, सारभूत पदार्थ को नहीं। छिलका ही उसके लिए सब कुछ बन चुका है।

अनेकांत की दृष्टि से सोचनेवाला कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि परिस्थिति का कोई मूल्य नहीं है। परिस्थिति का भी मूल्य है, किन्तु जितना मूल्य छिलके का है, परिस्थिति का भी उतना ही है। कोई भी समझदार आदमी कोरे छिलके को नहीं खाता। क्या परिस्थिति को ही सब कुछ मानकर उसकी ओट में खुद को छिपाने की कोशिश करने वाला व्यक्ति छिलका नहीं खा रहा है? वह परिस्थिति को अतिरिक्त मूल्य दे रहा है। उसे इतना मूल्य दे रहा है, जितना मूल्य उसका है ही नहीं।

परिस्थिति मनुष्य को तभी प्रभावित करती है, जब उसमें प्रभावित होनेवाले बीज विद्यमान होते हैं। किसी ने गाली दी, क्रोध आ गया। परिस्थिति बनी, क्रोध आ गया। परिस्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि गाली क्रोध को तभी उत्पन्न करती है, जब व्यक्ति में क्रोध के बीज विद्यमान हों। जब क्रोध के बीज समाप्त हो जाते हैं, तब हजार गालियाँ देने पर भी क्रोध उत्पन्न नहीं होता, कभी नहीं होता। ऐसे व्यक्तियों में क्रोध उत्पन्न करना सहज नहीं होता। हजार प्रयत्न करने पर भी उनमें क्रोध उत्पन्न होता ही नहीं।

संत की समता

महाराष्ट्र के संत एकनाथ गोदावरी में स्नान करके आ रहे थे। एक आदमी झरोखे में बैठा था। उसने सोचा कि संत आ रहे हैं, उन्हें गुस्से में ले आऊँ। संत झरोखे के नीचे आए, उसने ऊपर से थूक दिया। संत के सिर पर थूक पड़ा। वे शुद्धि के लिए पुनः नदी की ओर चल पड़े। स्नान किया और फिर उसी झरोखे के नीचे से गुजरे। उस आदमी ने पुनः थूक दिया। संत पुनः स्नान करने नदी की ओर मुड़े। बीस बार आदमी ने थूका और बीस बार संत को स्नान करना पड़ा। उनके मन में उस व्यक्ति के प्रति तनिक भी क्रोध नहीं आया। व्यक्ति निराश हो गया। इतना जघन्य प्रयत्न करने पर भी क्रोध नहीं आया। वह नीचे उतरा और संत के पैरों में गिर पड़ा। उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा, 'मैंने जघन्य अपराध किया। आप महान हैं, क्षमा करें।' संत बोले, 'तुमने कोई अपराध नहीं किया है। तुमने मेरा बड़ा उपकार किया है। तुम्हारे कारण ही मैं आज पुण्यभागी बना हूँ। प्रतिदिन एक बार माँ गोदावरी की गोद में जाता हूँ। तुमने तो मुझे माँ की गोद में जाने के बीस अवसर दिए। मैं तुम्हारा आभारी हूँ।'

परिस्थिति पर दोषारोपण

क्रोध उत्पन्न होने की भयंकर स्थिति एकनाथ के समक्ष थी। विकट परिस्थिति से वे गुजरे, पर क्रोध नहीं आया। क्यों, यह प्रश्न है। इसका समाधान है कि क्रोध उत्पन्न होने की परिस्थिति तो थी, किन्तु व्यक्ति में वह बीज विद्यमान नहीं था जो क्रोध को उभारता है। वह बीज दग्ध हो चुका था।

दूसरे को देखने वाला केवल परिस्थिति को देखता है। वह उस बीज को नहीं देखता, जिसे परिस्थिति प्रभावित करती है। ध्यान करने वाला व्यक्ति, अनेकांत की दृष्टि को जानने वाला व्यक्ति परिस्थिति को पच्चीस प्रतिशत मूल्य देता है। उस बीज को, जो परिस्थिति के कारण अंकुरित, पुष्पित, पल्लवित और फलित होता है। जिस व्यक्ति ने ध्यान का अभ्यास नहीं किया,

जिसने अध्यात्म के मर्म को नहीं जाना, जिसने अध्यात्म से जागृत होने वाली अनेकांत की दृष्टि का मर्म नहीं जाना, वह अपनी दुर्बलताओं को परिस्थिति पर लाद देता है और अनुभव करता है कि मैं तो निर्दोष हूँ, दोष सारा परिस्थिति का है।

अस्तित्व और नास्तित्व

प्रत्येक व्यक्ति 'पर' या परिस्थिति पर सारा दोषारोपण कर छुट्टी पा लेता है। अनेकांत की व्याख्या करने वाले आचार्य ने भी ऐसी ही समस्या हमारे सामने उत्पन्न की है। उन्होंने अस्तित्व और नास्तित्व, दोनों को मान्यता दी। उन्होंने कहा कि प्रत्येक तत्त्व का अपने द्रव्य की दृष्टि से अस्तित्व है, अपने क्षेत्र की दृष्टि से अस्तित्व है, अपने काल की दृष्टि से अस्तित्व है, अपने भाव की दृष्टि से अस्तित्व है। प्रत्येक तत्त्व का परद्रव्य की दृष्टि से नास्तित्व है, परक्षेत्र की दृष्टि से नास्तित्व है, परकाल की दृष्टि से नास्तित्व है, परभाव की दृष्टि से नास्तित्व है। इसका तात्पर्य है कि स्वसत्ता की अपेक्षा अस्तित्व है, परसत्ता की अपेक्षा नास्तित्व है।

अध्यात्म की दृष्टि यहाँ कुछ गौण हो गई है। 'पर' से नास्तित्व क्यों माना जाए? सापेक्षता की दृष्टि से विचार करें तो अस्तित्व और नास्तित्व, दोनों स्वगत होते हैं, वस्तुगत होते हैं। 'परद्रव्य' की अपेक्षा से नास्तित्व है, यह आवश्यक नहीं है। प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व व्यक्त पर्याय की अपेक्षा से है और नास्तित्व अव्यक्त पर्याय की अपेक्षा से है। प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व प्रकट पर्याय की अपेक्षा से है और नास्तित्व संभाव्य है, उनकी अपेक्षा से ही द्रव्य का नास्तित्व है।

नेपोलियन बोनापार्ट कहता था, 'मेरे शब्दकोश में असंभव शब्द नहीं है।' यदि इसे अहंकारपूर्ण कथन माना जाए तो यह बहुत बड़ा अहंकार है और यदि इसे तत्त्वदृष्टि मानें तो यह महत्त्वपूर्ण तत्त्वदृष्टि है।

अनेकांत के रहस्य को समझने वाला व्यक्ति किसी भी बात को असंभव मानकर नहीं चलता। लोग कहते हैं कि मन की चंचलता को मिटाना असंभव है। यह भ्रामक धारणा है।

पारा बहुत चंचल होता है, पर उसकी चंचलता को मिटाकर गोली बनाई

जाती है। यह भी बहुत संभव है।

लोग मानते हैं कि चलनी में पानी नहीं ठहरता, सारा नीचे आ गिरता है। पर चलनी में पानी को ठहराना भी असंभव नहीं रहा। पानी को बर्फ में बदल दो, फिर उसे चलनी में डालो। वह ठहर जाएगा।

हम यदि एक ही दृष्टि से किसी बात को पकड़ लेते हैं, वहाँ कठिनाई होती है। चलनी में पानी नहीं भी ठहर सकता और ठहर भी सकता है। अवस्था का परिवर्तन चाहिए। अवस्था के परिवर्तन के साथ-साथ सारी असंभव बातें संभव हो जाती हैं।

दृष्टिकोण में परिवर्तन

एक व्यक्ति गुरु के पास आया और बोला, 'गुरुदेव, दुःख से छूटने का कोई उपाय बताओ।' बड़ा प्रश्न था। थोड़े शब्दों में बहुत बड़ा प्रश्न कि दुःखों की दुनिया में जीना और दुःख से छूटने का उपाय करना। बात छोटी नहीं थी, बहुत बड़ी थी।

गुरु ने बताया, 'एक काम करो, जो आदमी सबसे सुखी हो, उसका अंगरखा ले आओ, फिर दुःख से छूटने का उपाय मैं तुम्हें बता दूँगा।' वह गया, एक घर में जाकर पूछा, 'भाई, तुम तो सबसे सुखी हो?'

कोई न पूछे, तब तक सब ठीक है। तरंग न उठे, तब तक समुद्र शांत है। तूफान न आए, तब तक जल शांत है। बवंडर न उठे, तब तक सब ठीक है, किन्तु जब तूफान आता है, बवंडर आता है, तब तरंग ही तरंग हो जाती हैं। मूल स्वभाव का पता ही नहीं चलता। प्रश्न न हो तब तक ही सब ठीक है, पर जब प्रश्न पूछा जाता है, ठीक बेठीक हो जाता है।

उसने कहा, 'मेरा पड़ोसी इतना बदमाश है कि आए दिन मुझे सताता रहता है। भला, मैं कैसे सुखी हो सकता हूँ? मैं तो अत्यंत दुःखी हूँ।'

वह दूसरे घर गया। दूसरा बोला, 'क्या बात पूछते हो? सुख की तो बात ही न करो। ऐसी कर्कशा पत्नी मिली है कि पूरा दिन सिर खाती रहती है। मेरे जीवन में तो सुख की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती।'

तीसरे के पास गया, चौथे के पास गया। किसी की पत्नी के पास गया तो वह पति को क्रूर बतलाती और पति के पास गया तो वह पत्नी को क्रूर बतलाता। पिता के पास गया तो वह पुत्र को बदमाश बतलाता। सैंकड़ों-सैंकड़ों घरों में घूमा, परिक्रमा करता चला गया, हजारों घरों के चक्कर लगाता रहा, लेकिन सब खुद को दुःखी बतलाते, कोई सुखी नहीं मिला। बड़ा आश्चर्य हुआ। गुरु के पास आकर बोला, 'मैं तो घूमते-घूमते थक गया। आपने कहा था कि सबसे सुखी व्यक्ति का अंगरखा ले आना। सबसे सुखी की बात तो दूर, मुझे तो कोई सुखी व्यक्ति मिला ही नहीं।'

गुरु ने कहा, 'क्यों दुःखी हैं? क्या दुःख है?'

उसने कहा, 'किसी का पड़ोसी खराब, किसी का बेटा खराब, किसी का बाप खराब, किसी का और कुछ खराब, हर आदमी दूसरे आदमी के कारण दुःख भोग रहा है।'

गुरु ने बताया, 'सुख का गुर है दूसरे की ओर नहीं बल्कि अपनी ओर झाँकना। यही सुख का उपाय है।'

वह बोला, 'इतनी छोटी बात आप पहले ही मुझे बता देते। क्यों मुझसे फालतू के चक्कर लगाए? क्यों मुझे घुमाया? क्यों परिक्रमा करवाई? बहुत छोटी बात थी, आप पहले ही बता सकते थे।'

गुरु ने कहा, 'सत्य दुष्पाच्य होता है, वह सीधा नहीं पचता। अगर मैं पहले ही यह बात कह देता तो तू हर्गिज नहीं मानता। जब स्वयं अनुभव कर लिया, सबकी परिक्रमा कर ली, सबके चक्कर लगा लिए, अब यह बात तेरी समझ में

आ सकती है कि सब लोग दूसरों को देख रहे हैं और दूसरों को देखने के कारण दुःख का अनुभव कर रहे हैं। अब यह बात समझ में आएगी कि सत्य बहुत परिश्रम के बाद पचता है।'

कहानी बहुत मार्मिक है और इसका फलित भी बहुत मार्मिक है कि दूसरे को देखनेवाला कभी सुख का अनुभव नहीं करता। हर आदमी दुःख का अनुभव करता है। अपने आप नहीं करता, दूसरे के कारण दुःख का अनुभव करता है। शत-प्रतिशत दुःख का कारण है—दूसरा। बीमारी आती है, वह भी तो दूसरी है, अपनी तो है नहीं। बीमारी के कारण दुःख का अनुभव होता है, शत्रुता के कारण दुःख का अनुभव होता है, अप्रियता के कारण दुःख का अनुभव होता है, 'पर' के कारण दुःख का अनुभव होता है।

हमारे व्यक्तित्व के साथ एक 'स्व' जुड़ा हुआ है और दूसरा 'पर' जुड़ा हुआ है। व्यक्तित्व की एक सीमा में हम अपने बारे में चिंतन करते हैं और दूसरी सीमा हमारी है कि हम 'पर' के बारे में चिंतन करते हैं। 'पर' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—स्वतंत्र और भिन्न। 'पर' इसलिए कि वह स्वतंत्र है और उसका अस्तित्व स्वतंत्र है। एक है भेदानुभूति और दूसरी है स्वतंत्रतानुभूति।

हमारे चिंतन में कुछ अलग-अलग कोण होते हैं। चिंतन, विचार हमेशा सापेक्ष होते हैं। अपने आप में चिंतन का कोई अर्थ नहीं होता। चिंतन की उत्पत्ति और उसके विकास के लिए कोई आधार चाहिए, कोई दूसरा चाहिए। द्रव्य हो या क्षेत्र, काल हो या अवस्था, व्यक्ति हो या वस्तु, चिंतन के लिए कुछ न कुछ चाहिए। ईंधन के बिना आग नहीं जलाई जा सकती। आग को जलाने के लिए ईंधन चाहिए, सामग्री चाहिए। चिंतन को प्रज्वलित होने के लिए भी ईंधन चाहिए, सामग्री चाहिए। चिंतन की आग का प्रज्वलन है—'पर'। यदि यह 'पर' शब्द नहीं होता तो फिर चिंतन की अपेक्षा ही नहीं होती।

हम अपने बारे में कैसे सोचें? हम दूसरे के बारे में सोचते हैं तो कैसे सोचें? जब हम सामाजिक जीवन जीते हैं, वहाँ केवल 'स्व' नहीं होता, 'पर' भी होता है और 'पर' होता है, इसलिए समाज बनता है। यदि केवल 'स्व' होता तो शुद्ध अध्यात्म होता, व्यवहार नहीं होता। हमारा सारा व्यवहार समाज

के आधार पर चलता है, भेद के आधार पर चलता है। इस भेदानुभूति के क्षेत्र में हम कैसे सोचें? यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है। चिंतन के दो पहलू होते हैं—विधेयात्मक और निषेधात्मक। हमारा एक दृष्टिकोण, एक चिंतन विधायक होता है और दूसरा निषेधात्मक। अपने और दूसरों के बारे में भी हमारे दोनों ही प्रकार के चिंतन होते हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे के बारे में विधेयात्मक चिंतन कम व निषेधात्मक चिंतन ज्यादा होता है। आदमी की आँख में पता नहीं क्या है, वह अपनी विशेषता ज्यादा देखेगी और दूसरे में कमी ही कमी देखेगी। किसी भी आदमी से पूछ लो, समझदार से समझदार आदमी से पूछ लो, दूसरे में कमी का ही उल्लेख करेगा। शायद ही कोई आदमी दूसरे के लिए यह कहे कि नहीं, वह तो सर्वगुणों से सम्पन्न है। सौभाग्य से ही यह शब्द निकलेगा। संभवतः नहीं निकलेगा और जो कम समझदार होता है, वह दूसरों को समझदार मानता ही नहीं। वह तो सबसे ज्यादा खुद को ही समझदार मानता है और अपनी ही विशेषताओं को देखता है। दूसरे के बारे में उसकी धारणाएँ बहुत अजीब होती हैं।

आज जो सत्ता पर बैठा है, वह सारी जनता में कमियाँ देखेगा। उसकी आलोचना करेगा और जब अपना प्रश्न आएगा तो मौन हो जाएगा। यह तो नहीं कहेगा कि मुझ में सारी विशेषताएँ हैं, पर उसे अपनी कमी का अनुभव भी नहीं होगा। दूसरे की कमी और खामी का दर्शन करना निषेधात्मक दृष्टिकोण है।

सामाजिक जीवन में बड़ा प्रश्न है मूल्यों का। समाज मूल्यों के आधार पर चलता है, किन्तु मूल्यांकन करना एक बहुत बड़ी समस्या है। हम सही मूल्यांकन नहीं कर पाते, क्योंकि हमारा दृष्टिकोण विधायक नहीं होता। जिस समाज में अहिंसा प्रतिष्ठित नहीं होती, वहाँ सही मूल्यांकन नहीं हो सकता।

मूल्यांकन की पहली शर्त है—अहिंसा। अहिंसा को बहुत सूक्ष्म दृष्टि से समझने की जरूरत है। केवल मारने की बात ही हिंसा नहीं है, यह तो बहुत स्थूल बात होती है। हिंसा की बात हमारी चेतना की समग्र शुद्धता की स्वीकृति से संबंधित है। चेतना में जितना राग और द्वेष अधिक होता है, उतना ही हमारा मूल्यांकन गलब होता है। ये दोनों आपस में इस तरह से जुड़े हुए हैं कि मनुष्य के सामने राग और द्वेष के अलावा तीसरा आयाम उद्घाटित ही नहीं

होता। प्रियता और अप्रियता का दृष्टिकोण बराबर बना रहता है। किसी भी आदमी को देखूँ, तो शुद्ध दृष्टि से देख सकूँ, यह बड़ा कठिन काम है। आदमी को देखना भी संभव नहीं रहा। देखने से पहले ही दीवारें खड़ी हो जाती हैं। कभी शत्रुता का भाव, कभी मित्रता का भाव, किसी के प्रति स्नेह, किसी के प्रति करुणा और किसी के प्रति क्रूरता, कोई न कोई मनोभाव दर्शक और दृश्य के बीच दीवार बन कर आ ही जाता है। कोई आदमी किसी का शुद्ध चेहरा देख पाता हो, यह बहुत कम संभव है।

विचारों में विरोध

दुनिया में कुछ भी एकरूप नहीं है। मौसम की तरह सब बदलते रहते हैं। आदमी भी कभी ठंडा होता है, कभी गर्म हो जाता है। न जाने कितनी बार ऐसा होता है! यह परिवर्तन एक अटल नियम है। इसे कभी नहीं टाला जा सकता। सब बदलते हैं। हमारे विचार भी बदलते हैं। वे भी शाश्वत कहाँ हैं? कुछ लोग कहते हैं कि विचार तो शाश्वत हैं। वास्तव में विचार और शाश्वत दोनों में ही विरोधाभास है, इसलिए दोनों का योग कैसे हो सकता है? विचार का अर्थ होता है चलने वाला। चलने वाला शाश्वत कैसे होगा? वह कभी शाश्वत नहीं हो सकता। जो चल है, वह अचल नहीं हो सकता और जो अचल है, वह चल नहीं हो सकता। चल और अचल का योग तो हो सकता है। एक द्रव्य में चलांश भी होता है और अचलांश भी होता है। दोनों अंश मिल सकते हैं, किन्तु जो अचल है, वह चल नहीं हो सकता और जो चल है, वह कभी अचल नहीं हो सकता। जो ध्रुव है, वह परिवर्तनशील नहीं हो सकता और जो परिवर्तनशील है, वह कभी ध्रुव नहीं हो सकता। प्रत्येक द्रव्य में दोनों प्रकार के धर्म मिलते हैं—ध्रुवांश और चलांश, परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील। विचार सदा परिवर्तनशील होता है। कहते हैं कि आज इस आदमी का विचार बदल गया। इसमें आश्चर्य क्यों होना चाहिए? यदि विचार न बदले तो उसमें आश्चर्य है। विचार का काम ही बदल जाना है। कल जो विचार था, वह आज नहीं होगा और आज जो विचार है, वह आगे नहीं होगा। विचार का काम है सतत प्रवाह, गतिशीलता, बदलते जाना और बदलते जाना। जो पकड़कर बैठ जाते हैं कि मैंने तो इस एक विचार को पकड़ लिया है, अब इसे छोड़ूँगा नहीं। वह अहंकार और गर्व का अनुभव करता है और सोचता

है कि मैं बड़ा मजबूत आदमी हूँ, मैं पकड़ी हुई एक बात को नहीं छोड़ता। अरे, क्या बड़ा काम कर दिया? यह तो मूर्खता है। पत्थर बहुत मजबूत होता है। हड्डी बहुत मजबूत हो जाती है, तो बहुत खतरनाक होती है। हड्डियाँ लचीली रहती हैं, तो आदमी स्वस्थ रहता है। बीमारी का पहला लक्षण है हड्डियों का कठोर हो जाना। रीढ़ की हड्डी अकड़ गई, कड़ी पड़ गई, तो मान लें कि स्वास्थ्य चला गया। इसलिए एक बात पर डट जाना, कोई विशेषता की बात नहीं है, परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आदमी मूर्खता की बात को भी बहुत विशेषतायुक्त मान लेता है। सम्यक् विचार और सम्यक् चिंतन नहीं होता है, तो अनेक व्यक्ति गलत बात को सही मान लेते हैं, मूर्खता को समझदारी मान लेते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि उन्हें मालूम भी नहीं होता कि वे मूर्खता कर रहे हैं। बहुत लोग ऐसे होते हैं जिन्हें अपनी मूर्खता का कभी पता ही नहीं चलता।

दो सहेलियाँ मिलीं। बातें चलने लगीं। एक सहेली ने दूसरी से कहा, 'आजकल औरतें अपने पतियों की निंदा बहुत करती हैं। निंदा करना बहुत बुरा है। ऐसा नहीं करना चाहिए। मुझे देखो, मेरा पति कितना आलसी, नालायक और महामूर्ख है, पर मैं कभी किसी को नहीं बताती कि मेरा पति ऐसा है।'

अजीब स्थिति होती है हमारे चिंतन की। जो विचार का संसार है, वहाँ विरोधाभास पलते हैं, वहाँ विसंगतियाँ पलती हैं। वहाँ समझदारी की ओट में मूर्खता पलती है। यह विचार का क्षेत्र है। अविचार में तो ऐसा नहीं होता। तीन स्थितियाँ हैं—अविचार, विचार और निर्विचार।

अविचार की स्थिति वह है, जिसमें व्यक्ति चिंतन करना जानता ही नहीं। छोटे प्राणी हैं, वे चिंतन करना नहीं जानते। मनुष्य में भी कुछ ऐसे मनुष्य हैं, जिनका मस्तिष्क अविकसित होता है। वे विचार करना नहीं जानते। यह विचार की अक्षमता ही अविचार है।

दूसरी अवस्था है—विचार। इस अवस्था में प्राणी चिंतन करता है, सोचता है।

तीसरी अवस्था है—निर्विचार। यह है ध्यान की अवस्था। इस अवस्था में चले जाने पर विचार समाप्त हो जाते हैं। न कोई कल्पना, न कोई स्फूर्ति और न कोई चिंतन। सारे दरवाजे बंद हो जाते हैं। यह हमारी निर्विचार अवस्था है।

निर्विचार का अनुभव शब्दातीत होता है और उसमें उस चेतना का जागरण होता है, जो चेतना इंद्रियों से, मन से, बुद्धि से और विवेक से परे है। सबसे परे की चेतना अतीन्द्रिय चेतना की अवस्था बन जाती है। वहाँ केवल आत्मा का अनुभव शेष रहता है। बाकी स्मृतियाँ लुप्त हो जाती हैं। यह एक ऐसी अवस्था है, जिसकी चर्चा शब्दों में नहीं हो सकती। यह अनुभव का विषय है। बुद्धि की सीमा का जो विषय है, वह शब्दों द्वारा प्रतिपादित किया जा सकता है। जो बुद्धि से परे का संसार है, वह शब्दातीत होता है। उसके बारे में कहा जाए तो भी कुछ नहीं बनता और न कहें तो भी मन नहीं मानता। कहने और न कहने की दोनों स्थितियों में आदमी उलझा रहता है। हमारा संसार बुद्धि और विचारों का संसार है। वहाँ अनेक बातें होती हैं, विरोधाभास होते हैं। जितना विरोधाभास वैचारिक संसार में है, उतना कहीं नहीं होता।

चर्चिल ने कहा था कि कुशल राजनीतिज्ञ वह होता है, जो सुबह एक बात कहता है और शाम को यह कहकर उसका खंडन कर देता है कि सुबह जो कहा था, वह ठीक था और अब जो कह रहा हूँ, वह भी ठीक है।

विचार के क्षेत्र में विरोधाभासों को टाला नहीं जा सकता। तर्कशास्त्र में स्थान-स्थान पर कहा गया है कि यहाँ अमुक बात का विरोधाभास है। जब शास्त्र ही तर्क का है, जहाँ विचार ही कर रहे हैं, तो विरोधाभास अवश्य आएगा।

गर्भवती माँ ने छोटे मुन्ने से पूछा, 'तुम क्या चाहते हो, मुन्ना या मुन्नी?' छोटा बच्चा था, बोला, 'माँ, तुम्हें कष्ट न हो तो छोटा-सा पिह्ला चाहिए, न मुन्ना और न मुन्नी।'

यह कहाँ से आएगा? जो है नहीं, वह नहीं आ सकता। जो होगा, वही आएगा। विचार का काम है, संगति, विसंगति, विरोध और अविरोध पैदा करना। कोई भी विचार, बुद्धि या तर्क ऐसा नहीं हो सकता जो केवल अविरोध पैदा करे या केवल संगति या सामंजस्य पैदा करे। यह नहीं हो सकता कि जो चलता है, वह सदा चलता ही रहे, लड़खड़ाए नहीं। जो चलता है, वह लड़खड़ाता है। जो घोड़े पर चढ़ता है, वह गिरता भी है। चलना और लड़खड़ाना, चढ़ना और गिरना, दोनों साथ जुड़े हुए हैं। विचार की इस द्वन्द्वात्मक दुनिया में हम एक बात की अपेक्षा रखें कि यही होगा, वह नहीं

होगा, यह होना चाहिए, वह नहीं होना चाहिए, तो यह हमारी भ्रांति होगी। यह विचार की प्रकृति व स्वभाव है। इसलिए हम विचार पर भी विचार कर रहे हैं, क्योंकि आदमी अच्छा सोचता है, बुरा भी सोचता है, विधायक सोचता है और निषेधात्मक भी सोचता है, सृजनात्मक सोचता है और विध्वंसात्मक भी सोचता है। हम चाहते हैं कि निषेधात्मकता और विध्वंसात्मकता का पक्ष कम होता चला जाए। इसलिए विचार पर विचार कर रहे हैं, यह सोच रहे हैं कि कैसे सोचें?

इस प्रश्न में विचारों के परिष्कार की बात आती है। उसका उपाय है कि यदि हम निर्विचार और विचार का संतुलन कर सकें, तो विचार को विधायक बना सकते हैं, सृजनात्मक बना सकते हैं और विध्वंसात्मकता को कम कर सकते हैं। केवल विचार ही करेंगे तो यह संभव नहीं होगा, क्योंकि विचारों में टक्कर होगी, संघर्ष होगा। निर्विचार का पलड़ा जैसे-जैसे भारी होता जाएगा, विचार का शोधन और परिष्कार भी होता चला जाएगा, बीच में आनेवाले अवरोध कम हो जाएँगे। विचार के शोधन और परिष्कार का और कोई उपाय नहीं है।

पुराने जमाने में एक कम्बल होता था। उसका नाम था रत्नकम्बल। वह बहुत बढ़िया होता था। आज से ढाई हजार वर्ष पहले उसका मूल्य सवा लाख मुद्रा था। उस सस्ते जमाने में इतना भारी मूल्य! किन्तु वह वातानुकूलित कम्बल होता था। गर्मी में बहुत ठंडा और सर्दी में बहुत गर्म। उसकी धुलाई आग में होती थी। आग में डाल दो, कम्बल बिल्कुल साफ हो जाएगा।

किन्तु जब तक आग में धुलाई नहीं होती, कम्बल से मैल नहीं उतरता। विचारों के मैल की धुलाई भी पानी से नहीं होती। विचार से विचार की धुलाई नहीं होती। बुद्धि और तर्क से विचार की धुलाई-सफाई नहीं हो सकती। विचार के मैल दूर करने, विचार को निर्मल बनाने का एक ही उपाय है कि निर्विचार की आग में विचार को डाल दिया जाए, वह अपने आप निर्मल हो जाएगा। विचार के सारे मैल साफ हो जाने के बाद उसमें से सृजनात्मकता, विधायकता, ज्योति और आस्था निकलेगी। उसमें से पुरुषार्थ और पराक्रम निकलेगा। कोई संघर्ष नहीं निकलेगा।

मन की मीमांसा

ध्यान की साधना करने वाले बहुत बार कहते हैं कि ध्यान सदा एक जैसा नहीं होता। कभी अच्छा होता है, कभी नहीं होता है। मन भी उसमें सदा एक जैसा नहीं लगता। कभी मन पूरा लगता है, कभी नहीं लगता है। उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। हम ध्यान की बात छोड़ दें, सामान्य जीवन में भी व्यक्ति के सामने यह समस्या रहती है, मन की स्थिति सदैव एकरूप नहीं रहती। कभी मन में बड़ा उत्साह होता है और कभी अवसाद छा जाता है। कभी प्रसन्नता और कभी दुःख का अनुभव। कभी अचानक बेचैनी हावी हो जाती है। यह सब क्यों होता है? बहुत गहराई में जाकर मनोविज्ञान की दृष्टि से इस विषय को मीमांसित करें तो पाएँगे कि जैसे-जैसे शरीर में रसायन बदलते हैं, वैसे-वैसे मन की स्थिति बदलती रहती है। हमारी मानसिक स्थितियों के बदलाव में रसायनों का बहुत बड़ा हाथ है।

मन और मनन

कोई अप्रिय घटना घटती है, मन में दुःख आता है। यह बात सहज समझ में आती है, किन्तु किसी अप्रिय घटना के न घटने पर भी मन दुःखी हो, तब समझने में कुछ कठिनाई होती है। स्थानांग सूत्र में क्रोध का कोई आधार नहीं है। केवल क्रोध ही नहीं, अहंकार, लोभ, दुःख, भय जैसे सारे आवेग कभी-कभी अहेतुक उत्पन्न हो जाते हैं। अकारण या अहेतुक वस्तु की व्याख्या करने में आदमी कठिनाई महसूस करता है। इस बात को हम शरीर और मन के संबंध से जोड़कर नहीं देखेंगे तो हमें समाधान नहीं मिलेगा।

हम शरीर और मन के संबंध में जानें। शरीर मन को प्रभावित करता है और मन शरीर को प्रभावित करता है। शरीर में होने वाले विकार मन को बहुत प्रभावित करते हैं। बाहर से हमें पता नहीं चलता कि भीतर क्या हो रहा है? किन्तु भीतर एक प्रक्रिया चलती रहती है और मन की अवस्थाएँ बदलती चली जाती हैं। आयुर्वेद में इस विषय पर बहुत सूक्ष्मता से चिंतन किया गया है, मीमांसा की गई है। कहा गया है कि शरीर में तीन दोषों का साम्य होता है तो आदमी स्वस्थ रहता है। वात, पित्त और कफ में कोई अवस्था आती है तो हमारे मन की स्थिति बिगड़ जाती है, हमारा व्यवहार भी बिगड़ जाता है।

संचालक तत्त्व

सबसे पहले हम वायु को लें। वायु सारी प्रवृत्तियों को संचालित करने

वाला तत्त्व है। हम किसी से पूछते हैं कि घड़ी में कितने बजे हैं? उत्तर मिलता है—‘पाँच।’ प्रश्न होगा—‘कैसे जाना?’ तो व्यक्ति कहेगा, ‘आँखों से देख रहा हूँ।’ यह बात भी ठीक है, किन्तु और गहरे में जाएँ तो पता चलता है कि वायु साथ में जुड़ती है तो आँख से दिखाई देता है। वायु साथ में न जुड़े तो आँख से दिखाई नहीं देगा। शरीर में जो कुछ है, उसे संचालित करने वाला तत्त्व है वायु। इससे वायु का महत्त्व स्वयंसिद्ध है, किन्तु शरीर में जब वायु तत्त्व की वृद्धि हो जाती है, उसका अतिरेक हो जाता है तो समस्याएँ पैदा होती हैं। चंचलता भी मन की समस्या है और इसे पैदा करने वाला तत्त्व है वायु। मन को चंचल बनाकर यह तत्त्व पीछे हट जाता है।

चंचलता

एक आदमी किसी होटल में खाना खाने गया। खाना बहुत खराब था। बँरे को बुलाकर कहा, ‘कहाँ है तुम्हारा मैनेजर? यहाँ कितना रद्दी खाना खिलाया जाता है?’ बँरा बोला, ‘महाशय, मैनेजर साहब सामने वाले होटल में खाना खाने गए हैं।’

बड़ी विचित्र बात है। अपने होटल में दूसरों को खाना खिलाता है और खुद दूसरों के होटल में जाकर खाता है। दूसरों के लिए समस्या पैदा करने के बाद पीछे हट जाना कुछ लोगों की प्रवृत्ति भी होती है। ऐसे तत्त्व भी हैं, जो काम करते हैं और पीछे हट जाते हैं। वायु भी ऐसा तत्त्व है, जो बहुत सारी समस्याएँ पैदा करने के बाद परदे के पीछे चला जाता है। हमारे सामने आती है मन की चंचलता। वायु सामने नहीं आती। जब भी मन की चंचलता का आभास हो, यह परीक्षण कर लेना चाहिए कि शरीर में वायु का प्रकोप कैसा है? यह बात सही है कि मन है तो चंचलता होगी। चंचलता जीवन के लिए आवश्यक भी है, किन्तु ज्यादा बढ़ जाने पर वह समस्या बन जाती है।

विवशता

चंचलता का मुख्य कारण वायु का प्रकोप है। जिस व्यक्ति में चंचलता अधिक है, उसे सोचना चाहिए कि इतनी चंचलता है, यह कहीं वायु का प्रकोप तो नहीं है? यदि है तो क्यों? इसका कारण भी खोजना चाहिए। कारण और उपाय, दोनों की खोज आवश्यक है। मन की पवित्रता के लिए, मन की मलिनता दूर करने के लिए शरीर पर पूरा ध्यान देना होगा, शारीरिक तत्त्वों की

मीमांसा करनी होगी। एक व्यक्ति ने निर्णय किया कि मैं कचौड़ी नहीं खाऊँगा। दूसरे दिन वह जैसे ही कचौड़ी की दुकान के सामने से गुजरा, वहाँ की महक ने उसे विवश कर दिया। वह कचौड़ी खाने बैठ गया। उसका मित्र उसे प्रतिज्ञा की याद दिलाता रहा, लेकिन वह मन के हाथों विवश बना रहा।

वात विकार के परिणाम

मन की अस्थिरता और चंचलता व्यक्ति को अपने निश्चय से डिगा देती है। अनेक लोग कहते हैं कि स्मरणशक्ति बहुत कमजोर है। बच्चों के बारे में भी ऐसी शिकायत आती है। छोटे बच्चों की स्मृति कमजोर होनी ही नहीं चाहिए। अस्सी की अवस्था पार कर जाने के बाद भी स्मृति कमजोर नहीं होनी चाहिए, लेकिन वह कमजोर हो जाती है। इसका कारण भी वायुवृद्धि है। वातवृद्धि स्मृति दौर्बल्य का एक प्रमुख कारण है। कुछ लोग कहते हैं कि डर बहुत लगता है। किसी घटना के होने पर डर लगना स्वाभाविक है। कुछ लोग अकारण ही डरे रहते हैं। प्रतिक्षण एक अज्ञात भय उनमें समाया रहता है। इस भय और घबराहट के पीछे भी वायु का विकार है। कुछ लोग सीमा से ज्यादा बोलते हैं, अनावश्यक ही बोलते रहते हैं। इस वाचालता का कारण भी वायु विकार ही है। कुछ लोगों को हँसी-मजाक, व्यंग्य में बड़ा रस मिलता है। ये सारे वात विकार के लक्षण हैं। इन लक्षणों को जानकर हम मन के प्रभाव की मीमांसा करें। अगर हम मन को वैसा बनाना चाहते हैं, जिसमें वाचालता की स्थिति न हो, चंचलता की स्थिति न हो, भय और घबराहट की स्थिति न हो, तो हमें शरीर पर ध्यान देना होगा। केवल मन के द्वारा इन समस्याओं का समाधान पाना संभव नहीं है। यह समस्या का मूल कारण है। इसे पकड़े बिना समस्या का समाधान नहीं होगा।

पित्त के परिणाम

दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व पित्त है। पित्त उत्तेजक है, गर्म है। स्वाभाविक ही है कि जिस व्यक्ति को क्रोध आए, उसमें पित्त की प्रधानता होगी। जब तक पित्त का शमन नहीं होता है, क्रोध का शमन नहीं हो सकता। प्रेक्षाध्यान में क्रोध के शमन हेतु सफेद और नीले रंग का ध्यान कराया जाता है। ज्योतिकेन्द्र, आनन्दकेन्द्र और विशुद्धिकेन्द्र पर नीले रंग का ध्यान, पूरे शरीर पर सफेद और नीले रंग का ध्यान कराया जाता है। इससे क्रोध की उत्तेजना

कम हो जाती है। पित्त की उत्तेजना कम होती है तो मन अपने आप शांत हो जाता है। पित्त का मन पर जो प्रभाव होता है, वह है क्रोध का अतिरेक। पित्त बढ़ने का जो समय होता है, विशेषतः वह मध्याह्न का समय है। दोपहर के समय किसी व्यक्ति से कोई बहुत गहरी बात नहीं करनी चाहिए। ऐसे काम के लिए ऐसा समय चुनना चाहिए, जब पित्त शांत रहे।

सोचने की कला

प्रसिद्ध दार्शनिक देकार्ट ने कहा, 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ। मेरे अस्तित्व का प्रमाण है कि मैं सोचता हूँ और सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ।'

यदि मुझे कहना पड़े तो मैं इसे तर्क की भाषा में कहूँगा, 'मैं हूँ और विकसित मस्तिष्क वाला प्राणी हूँ, इसलिए सोचता हूँ।'

सोचना मस्तिष्क का लक्षण नहीं है। सोचना एक अभिव्यक्ति है, वह लक्षण नहीं बन सकता। हमारा अस्तित्व और चैतन्य चिंतन से परे है, सोचने से परे है। सोचना ज्योति का एक स्फुलिंग मात्र है, समग्र ज्योति नहीं है। न सोचना ज्योति का अखंड रूप है।

ध्यान-साधना के द्वारा हम उस स्थिति तक पहुँचना चाहते हैं, जहाँ सोचने की बात समाप्त हो जाती है, जहाँ साक्षात्कार संभव हो जाता है। जहाँ साक्षात् होता है, वहाँ सोचने की आवश्यकता नहीं रहती। साक्षात् होने पर वस्तु 'हस्तामलकवत्' स्पष्ट हो जाती है। हथेली पर आँवला रखा हुआ है। वह जो कुछ है, उसका ही साक्षात्कार हो रहा है। उसके विषय में सोचने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्यक्ष में जहाँ दर्शन होता है, वहाँ चिंतन नहीं होता और जहाँ चिंतन होता है, वहाँ दर्शन नहीं होता।

हम तीन स्थितियों का अनुभव करते हैं, जानना, देखना और सोचना। एक आदमी ने पूछा, 'आपके नौकर ने अमुक काम किया या नहीं?' मालिक बोला, 'मुझे ज्ञात नहीं है। मैं जानकारी करके बताऊँगा।' इस स्थिति में सोचने की बात प्राप्त नहीं होती। जो घटना किसी दूसरे से संबद्ध है, उसके लिए सोचा नहीं जा सकता। वहाँ चिंतन काम नहीं देता।

एक आदमी ने पूछा, 'आपके घर में अमुक वस्तु है?' उसने कहा, 'भाई! याद नहीं है, देखकर बताऊँगा।' यहाँ भी सोचना काम नहीं आया। एक घटना है, 'जानकारी करके बताऊँगा' और दूसरी घटना है, 'देखकर

बताऊंगा'। जहाँ जानना और देखना होता है, वहाँ सोचना नहीं होता। जहाँ जानना और देखना नहीं होता, वहाँ सोचने की स्थिति आती है। जो परोक्ष है, अस्पष्ट है, जिसके विषय में सहसा कुछ कहा नहीं जा सकता, वहाँ सोचना होता है, चिंतन करना पड़ता है।

चिंतन और चेतना

सोचना मस्तिष्कीय चेतना का अंग है, इसलिए यह ज्योति का एक स्फुरलिंग मात्र है, ज्योति की समग्रता नहीं है। जब दर्शन स्पष्ट होता है, प्रत्यक्ष दर्शन की स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब चिंतन समाप्त हो जाता है। ध्यान-साधना का लक्ष्य है कि साधक प्रत्यक्ष दर्शन की अवस्था तक पहुँचे, साक्षात्कार की भूमिकाओं को प्राप्त करे। जब साक्षात्कार होता है, तब चिंतन नीचे रह जाता है और अखंड ज्ञान ऊपर आ जाता है। जब तक व्यक्ति शरीर से बंधा हुआ है, मस्तिष्कीय चेतना से जुड़ा हुआ है और अतीन्द्रिय चेतना जागृत नहीं हुई है, तब तक चिंतन करना भी आवश्यक होता है। उससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता।

दो प्रकार के व्यक्ति चिंतन से मुक्त होते हैं। प्रत्यक्षज्ञानी कभी चिंतन नहीं करता, अज्ञानी कभी चिंतन नहीं कर सकता। प्रत्यक्षज्ञानी को चिंतन करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि जो कुछ है, वह उसके लिए प्रत्यक्ष है। अज्ञानी या मूर्ख चिंतन करना जानता ही नहीं, उसमें चिंतन की क्षमता नहीं होती।

मालिक ने नौकर से कहा, 'वनस्पति घी के दो डिब्बे हैं। बगीचे में जाकर इस घी को कहीं छिपा दो।' नौकर डिब्बे लेकर बगीचे में गया। थोड़े समय बाद आकर बोला, 'मालिक! मैंने घी तो बगीचे में छिपा दिया, अब डिब्बे कहाँ रखूँ?' मालिक बोला, 'अरे! घी को कहाँ और कैसे छिपाया?' नौकर बोला, 'मैंने वृक्ष के पास एक गड्ढा खोदा, घी उसमें डालकर ऊपर से मिट्टी डाल दी। घी को छिपा दिया। किसी को पता ही नहीं चल पाएगा। अब बताएँ, डिब्बे कहाँ रखूँ?'

जो व्यक्ति सोचना जानता ही नहीं, जिसमें चिंतन की क्षमता विकसित नहीं है, वह अज्ञानी होता है। वह गड्ढा खोदकर घी को छिपा सकता है, पर खा

नहीं सकता। वह घी को छिपा सकता है, पर डिब्बे को छिपाना नहीं जान सकता।

दो प्रकार के व्यक्ति चिंतनशून्य होते हैं—प्रत्यक्षज्ञानी और अज्ञानी। यह कैसी विचित्र तुलना है! बहुत बार ऐसी तुलनाएँ होती हैं। मान और अपमान में सम रहने वाले दो ही व्यक्ति होते हैं, या तो वीतराग इनमें सम रह सकता है या मूर्ख इनमें सम रह सकता है। कहाँ वीतराग और कहाँ मूर्ख! वीतराग व्यक्ति में असमानता के बीज नष्ट हो जाते हैं, समभाव प्रखर हो जाता है। मूर्ख में मान और अपमान के विवेक की क्षमता नहीं होती। वह दोनों को अलग नहीं कर सकता, इसलिए वह सम रहता है। कैसी विचित्र तुलना! कैसा विचित्र संयोग!

हमारे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण घटक है, 'चिंतन'। एक ओर हम चिंतन की महत्ता स्वीकार करते हैं, दूसरी ओर निर्विकल्प या विचार शून्य अवस्था की प्राप्ति के लिए ध्यान-साधना में संलग्न होते हैं। क्या यह विसंगति या विरोधाभास नहीं है? हम इस बात को न भूलें कि निर्विचार अवस्था या अचिंतन की अवस्था में पहुँचना हमारा लक्ष्य अवश्य है, पर वहाँ तक पहुँच पाना आज ही संभव नहीं हो सकता। यह मान लेना बहुत बड़ी भ्रांति है कि ध्यान की साधना प्रारंभ करते ही व्यक्ति विचारातीत अवस्था को प्राप्त हो जाता है। ध्यान-काल में विचारों का प्रवाह और तीव्र हो जाता है। जो विचार सामान्य अवस्था में नहीं आते, वे विचार ध्यान-काल में उभर आते हैं। जैसे ही व्यक्ति ध्यान की मुद्रा में या कायोत्सर्ग की मुद्रा में स्थित होता है, तब उसमें न आने वाले विचार भी आने लग जाते हैं। उस समय विस्मृत तथ्यों की स्मृति उभर जाती है और व्यक्ति विचारों से आक्रांत हो जाता है। इस अवस्था में आदमी आकुल-व्याकुल हो जाता है, और वह ध्यान-साधना को छोड़ने की बात सोच लेता है, परन्तु उस समय विचारों का आना तो अनिवार्य है, क्योंकि उनके उद्भव का वह एक सुंदर अवसर है। जब आदमी तनाव में होता है, तब सब उससे डरते हैं। विचार भी तब आना नहीं चाहते। जब आदमी कायोत्सर्ग की मुद्रा में होता है, शिथिल होकर बैठता है, जब सारे तनाव विसर्जित हो जाते हैं, तब विचार सोचते हैं कि चलो अब यह अच्छा अवसर है। कोई खतरा नहीं है। वे बेधड़क आते ही रहते हैं। जब तक शिथिलीकरण बना रहता है, वे अभय हो जाते हैं। शिथिलीकरण में सबका भय समाप्त हो जाता है। तनाव की

स्थिति में सब भयभीत हो जाते हैं, सब परस्पर खिंच जाते हैं। तनाव की स्थिति में मांसपेशियाँ खिंच जाती हैं, हड्डियाँ कड़ी हो जाती हैं। शिथिलीकरण में कोई आदमी गिरता है तो उसे चोट नहीं लगती और यदि तनाव की स्थिति में कोई आदमी गिरता है तो उसे बहुत गहरी चोटें आती हैं। जितना अधिक तनाव होगा, उतनी ही अधिक चोट।

ध्यान एक प्रक्रिया है। उसका परिणाम है कि व्यक्ति की पकड़ कम हो जाती है। उसमें प्रवेश का अवकाश है तो निर्गम का भी उतना ही अवकाश है। ध्यान करने वाले सबका स्वागत करते हैं, आने वाले का भी और जाने वाले का भी। ध्यान न करने वाले अनेक तथ्यों को ऐसे पकड़ लेते हैं कि वे जीवन भर उन्हें छोड़ नहीं सकते। पकड़ने वाले बहुत दुःखी होते हैं।

ध्यान का प्रारम्भ करते ही व्यक्ति विचारों से आक्रांत हो जाता है। ध्यान करने वाले को विचारों के इस प्रवाह से घबराना नहीं है। वह ज्ञाता-द्रष्टा बन जाए। जो आते हैं, उन्हें देखें और छोड़ दें। जैसे-जैसे द्रष्टाभाव और ज्ञाताभाव अधिक पुष्ट होता जाएगा, वैसे-वैसे विचारों का प्रवाह मंद और कमजोर होता जाएगा। जैसे-जैसे अनुभूति जागेगी, अनुभव का रस प्रबल होगा, विचार निर्बल होते जाएँगे। किन्तु पहले ही दिन सोचा जाए कि विचार आए ही नहीं, यह असंभव बात है। इसीलिए ध्यान करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को कैसे सोचें, यह सीखना चाहिए। जो व्यक्ति इन कँटीले मार्ग में चलते-चलते, इन नुकिले काँटों के बीच अपनी जीवन-यात्रा को चलाते हुए इनसे परेशान होना नहीं चाहता, काँटों की चुभन से पीड़ित होना नहीं चाहता और निर्विघ्न रूप से चलना चाहता है, उसके लिए यह बहुत उपयोगी है कि वह 'कैसे सोचता है'—इस विज्ञान को सीखे।

हर आदमी सोचता है। कोई भी आदमी ऐसा नहीं मिलता, जो नहीं सोचता हो। पर प्रश्न है, कैसे सोचें ?

'सोचना' एक कला है। हर आदमी इस कला को नहीं जानता। इसे कोई-कोई आदमी ही जानता है। जो इसे जान लेता है, उसका मार्ग बहुत साफ हो जाता है।

एक फकीर ने चर्चा के प्रसंग में कहा, 'मैंने हर व्यक्ति से कुछ न कुछ अवश्य ही सीखा है।' एक व्यक्ति ने पूछ लिया, 'आपने चोर से क्या सीखा ?' फकीर बोला, 'एक बार

मैं चोर के घर ठहरा था। रात के समय चोर चोरी करने जाता। जब वह वापस लौटता, तब मैं पूछता, कुछ मिला? वह कहता, कुछ नहीं मिला। आज खाली हाथ लौटा हूँ, कल मिल जाएगा। दूसरे, तीसरे दिन मैं यही पूछता गया। वह कहता कि आज भी कुछ नहीं मिला, खाली हाथ लौटा हूँ। कल कुछ मिल जाएगा। इस प्रकार पूरा एक महीना बीत गया। एक महीने तक चोर को कुछ नहीं मिला। मैंने सोचा, चोर रोज चोरी करने जाता है। सात-आठ घंटे बिताता है। अपनी नींद का मीठा समय खोता है। चोरी में कुछ नहीं मिलता। पूरा एक महीना हो गया। पर उसमें निराशा का भाव नहीं आया। वह सदा कहता है, आज नहीं तो कल अवश्य मिलेगा। मैंने सोचा, चोर में इतना धैर्य है कि वह खाली हाथ लौटने पर निराश नहीं हुआ। यह देखकर मैंने उससे सीखा कि भक्ति के मार्ग में कभी निराश नहीं होना है। अच्छा काम करते हुए कभी निराश नहीं होना है।'

मनुष्य की प्रकृति विचित्र है। अच्छा काम करने वाला जल्दी निराश हो जाता है और बुरा काम करने वाला निराश नहीं होता। चोर, लुटेरे, डाकू कहाँ निराश होते हैं? यह एक तथ्य है, सच्चाई है। मैंने चिंतन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि आदमी की जितनी गहरी आस्था बुराई में होती है, उतनी अच्छाई में नहीं होती। अच्छाई में उतनी गहरी आस्था संपादित करने के लिए बहुत साधना की आवश्यकता होती है। जहाँ आस्था नहीं होती, वहाँ निराशा हो जाती है। बुराई और आस्था का इतना गहरा संबंध है कि आदमी बुराई के रास्ते पर चलता है और स्वतः उस रास्ते पर उसकी आस्था जमती चली जाती है। बहुत प्रयत्न करने की जरूरत ही नहीं रहती। बिना कुछ साधना किए ही आस्था अनुबंध हो जाता है। भलाई के रास्ते पर आस्था का जमना, आस्था का अनुबंध होना बहुत कठिन होता है।

हम कैसे सोचें? हमारा सोचने का तरीका क्या हो? इसे जानना इसलिए जरूरी है कि निषेधात्मक दृष्टि से चिंतन करने वाला व्यक्ति हर सच्चाई को नकारता चला जाता है और विधायक दृष्टि से चिंतन करने वाला व्यक्ति सच्चाई के पास पहुँच जाता है, सच्चाई को उपलब्ध हो जाता है और वह अनेक

समस्याओं का समाधान पा लेता है। चिंतन की दो दृष्टियाँ हैं, निषेधात्मक दृष्टि और विधायक दृष्टि। आदमी बहुत बार निषेधात्मक दृष्टि से ही सोचता है, विधायक दृष्टि से नहीं सोचता। निषेधात्मक दृष्टि से सोचने का परिणाम होता है निराशा, अनुत्साह, आवेग, कार्य से निवृत्ति, कर्त्तव्य से अपसरण। एक शब्द में कहें तो निषेधात्मक दृष्टि का परिणाम है जीवन में असफलता का उदय।

जीवन की सफलता का सबसे महत्वपूर्ण सूत्र है विधायक दृष्टि से सोचना। विधायक दृष्टि से वही व्यक्ति सोच सकता है, जिसने ध्यान का मर्म समझा है, जिसने चित्त को निर्मल करना सीखा है, जिसने मन को एकाग्र करना सीखा है और जिसने राग-द्वेष के मलों को साफ करना सीखा है।

विधायक दृष्टिकोण और निषेधात्मक दृष्टिकोण की कुछ कसौटियाँ हैं। उनमें एक कसौटी है, समग्रता की दृष्टि और व्यग्रता की दृष्टि। समग्रता की दृष्टि से चिंतन करने वाला व्यक्ति विधायक दृष्टि से सोच सकता है और व्यग्रता की दृष्टि से चिंतन करने वाला एकांगी आग्रह में फँस जाता है, वह अपने चिंतन को विकृत बना देता है।

जब व्यक्ति के सामने घटना या वस्तु का पूरा चित्र नहीं होता, अधूरा चित्र होता है, तब उसके आधार पर किया गया चिंतन भी अधूरा ही होगा। वह सही नहीं हो सकता। सम्यक् और संतुलित चिंतन के लिए समग्रता का दृष्टिकोण जरूरी है। जब विधायक या समग्रता का दृष्टिकोण होता है, तब अनेक संघर्ष स्वयं टल जाते हैं। जब व्यग्रता का दृष्टिकोण होता है, तब आग्रह पनपता है और संघर्ष उभर आते हैं।

स्वर्णिम सूत्र

बुरी आदत को बदलना है तो नई आदत के निर्माण
के लिए नए विकल्प की खोज करो।
निर्विकल्प समाधि तक नहीं पहुंच जाओ तब तक
विकल्प की खोज जरूरी है।

करके देखें

● दीर्घ श्वासप्रेक्षा का प्रयोग—वृत्तियों के परिष्कार हेतु ।

सहज आसन, आंखें कोमलता से बंद धीरे-धीरे लम्बा श्वास लें और धीरे-धीरे श्वास छोड़े। श्वास के कम्पन नाभि तक पहुंचे। श्वास लेते समय पेट की मांसपेशियां फूलती हैं। छोड़ते समय सिकुड़ती हैं। चित्त को नाभि पर केन्द्रित करें और आते-जाते श्वास का अनुभव करें। प्रत्येक श्वास की जानकारी बनी रहे। अभ्यास की निरन्तरता को बनाएं रखें। कुछ समय बाद चित्त को नाभि से हटाकर दोनों नथुनों के भीतर संधि स्थल पर केन्द्रित करें। लयबद्ध लम्बा श्वास चालू रखें। चित्त की सारी शक्ति श्वास को देखने में लगा दें। केवल श्वास का अनुभव करें। यदि विकल्प आते हैं तो उन्हें रोकने का प्रयत्न न करें। केवल द्रष्टाभाव से देखें। कुछ समय के लिए जीभ को उलटकर तालू से लगा दें। श्वास के प्रति जागरूक रहें। यह प्रयोग १० मिनट तक करें। अभ्यास से समय को बढ़ाया जा सकता है।

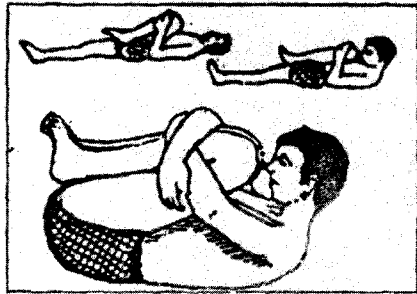
● मंत्र का प्रयोग

ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं—दोनों भृकुटियों के मध्य दर्शन केन्द्र पर अरुण रंग का ध्यान करें एवं दीर्घश्वास के साथ मंत्र का मानसिक जप करें। इसका प्रतिदिन १० मिनट प्रयोग करें।

परिणाम—अंतर्दृष्टि (Third Eye) का विकास होगा।

● आसन-प्राणायाम

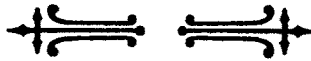
पवनमुक्तासन—भूमि पर सीधे लेटकर श्वास भरते हुए दोनों घुटनों को मोड़कर सीने से लगाएं। दोनों हाथों से बांधते हुए नाक का स्पर्श करें। सहज अवस्था तक रुकें। फिर श्वास छोड़ते हुए गर्दन और पैरों को सीधा करें।
लाभ—वायु विकृति को दूर करता है।



अध्याय कहता है

जो जीवन में परिवर्तन करता है—

- वह अनेकांत का प्रयोग करता है।
- वह परिस्थिति को दोष नहीं देता है।
- वह विवशता का जीवन नहीं जीता है।
- वह दूसरों की अपेक्षा स्वयं पर नजर रखता है।
- वह 'रहो भीतर-जीयो बाहर' सूत्र को आत्मसात् कर लेता है।
- वह स्वतंत्रता, स्वावलंबन और पुरुषार्थ में विश्वास करता है।
- वह अहिंसक जीवन शैली को अपनाता है।
- वह सोचने की कला का उपयोग करता है।
- वह आत्मा से आत्मा को देखने का अभ्यास करता है।




“हमारी दो आंखें हैं। दाईं आंख है प्रियता की और बाईं है अप्रियता की। जब तक प्रियता और अप्रियता की आंख बनी रहती है, तब तक क्रोध समाप्त नहीं होता। क्रोध समाप्त होता है, तीसरी आंख खुलने से। तीसरी आंख समता की आंख है।”



अध्याय

३

माता-पिता अपने लड़के से कहते हैं कि शराब मत पीओ, व्यसनों से दूर रहो, बुरे आचरण से बचो, बुरों की संगत मत करो। लड़का मानता है कि ये मेरे शत्रु है। जो कहता है कि चलो, नाइट-क्लब में चलें, शराब पीएं, नाचें, मौज करें, उसे मित्र मान लेता है। यह दृष्टि का विपर्यास है।

 चार्च ने शिष्य को अनेकांत का दर्शन पढ़ाकर कहा, 'जाओ, अब दर्शन की यात्रा करो। सब दर्शनों को पढ़ो, सबल विचारों को पढ़ो, जो दर्शन और विचार मिथ्या लगें, उनकी तालिका बनाकर मेरे पास लाओ।'

शिष्य ने दर्शन की यात्रा शुरू की। जितने दर्शन थे, सबको पढ़ा। दर्शन की यात्रा पूरी हुई। वह आचार्य के पास आया। आचार्य ने पूछा, 'क्या तुम्हारी दर्शन की यात्रा पूरी हो गई?' शिष्य बोला, 'यात्रा को पूरी करने के बाद आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूँ।' आचार्य ने मिथ्या दर्शन और विचारों की तालिका माँगी। शिष्य ने कहा, 'गुरुदेव! मेरे हाथ

तो खाली हैं।'

- कोई पन्ना नहीं मिला ?
- पन्ना मिला, पर वह खाली है। लिख नहीं सका।
- क्या कलम नहीं मिली ?
- कलम मिली, पर लिख नहीं सका।
- क्या चाकू नहीं मिला ?
- चाकू मिला, पर चला नहीं।
- स्याही भी मिली, पर लिखने को कुछ था ही नहीं।
- क्या कोई दर्शन या विचार मिथ्या नहीं लगा ?
- मुझे कोई दर्शन या विचार मिथ्या नहीं लगा, इसीलिए मैं उनकी तालिका नहीं बना सका।

शिष्य, तुम जाओ। तुम्हारा अध्ययन सम्पन्न हो चुका है। तुम उत्तीर्ण हो। ठीक ऐसी ही अन्य घटना मैं देख रहा हूँ। तक्षशिला विश्वविद्यालय के आचार्य आत्रेय ने जीवक से कहा, 'जाओ, तक्षशिला के बाहर जंगल में जो औषधियाँ हैं, उन्हें देखो, किन्तु जो वनस्पति औषधि न हो, वह मेरे पास ले आओ।' आचार्य की आज्ञा शिरोधार्य कर जीवक जंगल में गया। बहुत घूमा, पूरे जंगल का चक्कर लगा लिया। अंत में वह थकान से चूर हो गया। उसे खाली हाथ लौटना पड़ा। वह आचार्य के समक्ष उपस्थित हुआ। आचार्य ने पूछा, 'वत्स! क्या मेरे आदेश का पालन किया?' वह बोला, 'गुरुदेव! सुबह से शाम तक जंगल में घूमता रहा। सारा जंगल मैंने छान डाला, किन्तु एक भी पौधा ऐसा नहीं मिला जो औषधि न हो।' आचार्य बोले, 'वत्स! तुम औषधि विज्ञान में निष्णात हो गए। तुम्हारा अध्ययन सफल हुआ।'

क्या कारण है कि एक भी पौधा ऐसा नहीं मिला, जो औषधि के रूप में काम न आता हो? एक भी विचार ऐसा न मिले, जो गलत हो। एक भी दृष्टि

ऐसी नहीं मिलती, जो मिथ्या हो। क्या यह कोई चमत्कार है? क्या संसार में कोई मिथ्या या असत्य नहीं है? यदि संसार में कुछ भी असत्य नहीं है, तो सब कुछ सत्य है। यदि ऐसा नहीं है, तो फिर असत्य प्राप्त क्यों नहीं होता? अनेकांत के अभ्यासी को कोई मिथ्या दृष्टि मिलती ही नहीं। सारी मिथ्या दृष्टियाँ एकांतदर्शी के लिए संभव होती हैं। जिसने अनेकांत को हृदयंगम कर लिया, उसके लिए कोई भी दृष्टि मिथ्या नहीं होती। फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि कौन-सा सम्यक है और कौन-सा असम्यक? इस प्रश्न का उत्तर किसी साम्प्रदायिक व्यक्ति से लिया जाए, तो वह कहेगा कि मेरे ही शास्त्र सम्यक हैं, तुम्हारे शास्त्र मिथ्या और असम्यक हैं। किन्तु जब अध्यात्म की दृष्टि से, अनेकांत की दृष्टि से विचार किया गया, तो उन्होंने कहा कि कोई शास्त्र सम्यक नहीं होता और कोई शास्त्र मिथ्या नहीं होता। जिसकी दृष्टि सम्यक है, उसके लिए सारे शास्त्र सम्यक हैं और मिथ्यादृष्टि व्यक्ति के लिए सारे शास्त्र मिथ्या हैं। शास्त्र का सम्यक होना या मिथ्या होना हमारी दृष्टि पर निर्भर हैं। जब अनेकांत की दृष्टि जाग जाती है, तब सब कुछ सम्यक हो जाता है, मिथ्या कुछ लगता ही नहीं। जब तक हम इन दो आँखों से देखते हैं, तब एक सत्य लगता है, एक असत्य। एक प्रिय होता है, एक अप्रिय। एक स्वीकार्य होता है और एक अस्वीकार्य। जब तीसरी आँख खुल जाती है, तब प्रिय और अप्रिय के भेद मिट जाते हैं, केवल पदार्थ बचता है। तब न कुछ नश्वर है और न अनश्वर, न कुछ नित्य और न अनित्य रहता है। तीसरी जाति बन जाती है। यह तीसरी आँख है—अनेकांत।

सत्य का साक्षात्कार

अनेकांत के आचार्यों ने कहा है कि जगत में कुछ भी सर्वथा नित्य नहीं है और अनित्य भी नहीं है। नित्य को देखने वाली आँख अलग होती है और अनित्य को देखने वाली आँख अलग। किन्तु तीसरी आँख वह है, जो सच्चाई को देखती है। उस आँख के खुल जाने पर तीसरी जाति सामने आती है। वह न नित्य होती है और न अनित्य, वह नित्यानित्य होती है। एक आदमी समानता को देखता है, दूसरा असमानता को देखता है। तीसरी आँख खुल जाने पर न समानता है और न असमानता। सम-असम तीसरी जाति बन जाती है। तीसरी जाति बन जाना या तीसरी आँख खुल जाना अनेकांत का बहुत बड़ा

रहस्य है। जब तक हम दो जातियों के बीच में रहेंगे, तब तक सच्चाई को नहीं पकड़ सकेंगे और सत्य तथा मिथ्या का संघर्ष बराबर बना रहेगा। तीसरी आँख के खुल जाने पर तीसरी जाति का निर्माण करना होता है। यह जो निर्मित है, उसका दर्शन शुरू हो जाता है। अनेकांत के आचार्य ने कहा है-

‘स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ।’

तीसरी जाति

तीसरी आँख खुल जाने पर अस्तित्व सच्चाई नहीं होती, नास्तित्व सच्चाई नहीं होती, किन्तु अस्तित्व और नास्तित्व का योग, यह तीसरी जाति सच्चाई होती है। पदार्थ को कोई वाच्य कहता है और कोई अवाच्य। कोई कहता है कि यह कहा जा सकता है और कोई कहता है कि यह नहीं कहा जा सकता। एक दार्शनिक परम्परा वाच्य को लिए बैठी है और दूसरी अवाच्य को। सत्य वाच्य होना चाहिए। एक आँख वाच्य को देखती है, दूसरी अवाच्य को देखती है। तीसरी आँख जब खुलती है, तब न कोई वाच्य होता है और न अवाच्य, किन्तु वाच्यावाच्य होता है। यही सच्चाई है।

अनेकांत की तीसरी आँख खुले बिना हम दार्शनिक और व्यावहारिक समस्याओं को नहीं सुलझा सकते। आज के विज्ञान ने अनेक प्रवृत्तियाँ चला रखी हैं। मनुष्य उनमें उलझा हुआ है। अनेकांत के बिना हम उनका समाधान भी नहीं खोज सकते।

क्रोध : कारण और निवारण

एक भाई ने पूछा, ‘क्या क्रोध की आदत बदली जा सकती है?’ मैंने कहा, ‘संभव है।’ उसने पूछा, ‘यह कैसे संभव हो सकता है? जो आदत बन गई, वह कैसे बदली जा सकती है?’ यदि दृष्टिकोण शाश्वत का है तो आदमी सोचता है कि आत्मा का कुछ भी नहीं बदलता। यदि अशाश्वत का दृष्टिकोण है तो वह सोचता है कि सब कुछ बदल जाता है, शेष कुछ भी नहीं बचता। यदि तीसरी आँख खुल जाए, तो क्रोध की आदत बदल सकती है। तीसरी आँख न खुले, तो क्रोध की आदत कभी नहीं बदल सकती।

क्रोध क्यों आता है? यह एक प्रश्न है। परिस्थितिवादी कहेगा कि क्रोध परिस्थितियों से उत्पन्न होता है। समाज में ऐसे कई कारण हैं, ऐसी अनेक

परिस्थितियाँ हैं कि क्रोध आए बिना नहीं रह सकता। यदि परिस्थितियों के कारण ही क्रोध आए तो क्रोध की आदत बदलने की बात नहीं होती। पहले परिस्थितियों को समाप्त करना होगा। उनके समाप्त हो जाने पर क्रोध नहीं आएगा। न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी। समाज में न कभी परिस्थितियाँ समाप्त होगी और न कभी क्रोध समाप्त होगा। इस दुनिया में कभी परिस्थितियाँ समाप्त होने वाली नहीं हैं। उन्हें समाप्त करने का विचार मूर्खतापूर्ण है। एक परिस्थिति समाप्त होगी तो पाँच नई सामने होंगी। एक समस्या सुलझेगी और पाँच की उलझन सामने होगी। परिस्थितियों का अंत नहीं किया जा सकता। समस्याओं को समूल नहीं मिटाया जा सकता।

एक आंदोलन चला कि अधिक अन्न उपजाओ। खेतों में रासायनिक खाद दो, अन्न की उपज अधिक होगी। यह क्रम शुरू हुआ। रासायनिक खाद से अन्न के तत्त्व समाप्त होने लगे। इससे अन्न में इतने विष घुल जाते हैं कि यह उसे खाने वाले की मौत का कारण भी बन सकता है। एक ओर प्रयत्न चलता है, ताकि आबादी न बढ़े। एक ओर औषधियों का प्रयत्न चलता है, ताकि मनुष्य को बचाया जा सके। एक ओर रासायनिक खाद का प्रयत्न चलता है, ताकि बिना कोई बवंडर खड़ा किए आबादी को कम किया जा सके। यह आबादी घटाने का बहुत सस्ता उपाय है। जहरीली औषधियाँ, जहरीला भोजन और परिवार नियोजन, इन तीनों में मुझे कोई अंतर नहीं दिखता। तीनों में एक ही बात है। राजनीतिज्ञ बड़े चतुर होते हैं। वे कहते हैं कि सीधा मारने का उपाय मत करो। ऐसा उपाय करो, ऐसी दवा दो, जिससे लेनेवाले को मिठास आए और अपना काम भी बन जाए। गुड़ देने से काम बने, तो जहर क्यों दें?

समता है तीसरी आँख

हमारी दो आँखें हैं। दाईं आँख है प्रियता की और बाईं आँख है अप्रियता की। तीसरी आँख है समता की।

पिता पुत्री के घर गया। वह दामाद के साथ भोजन करने बैठा। उसकी कन्या भोजन परोसने आई। उसने दोनों की थाली में खिचड़ी परोसी। अब घी परोसने की बारी आई। उसने सोचा कि पिताजी की थाली में घी परोसूँ या नहीं? यदि

परोसूँ तो कितना परोसूँ? पति तो पास में ही बैठा है। यदि अधिक या कम परोस दिया तो घर में कलह हो जाएगी। पति कुपित हो जाएगा। उसने बाईं आँख से पति की ओर देखा। पिता ने देख लिया। उसने पुत्री से कहा, 'बाबा से भी बाईं।' बाईं आँख में कुछ विशेषता होती है।

जब प्रियता और अप्रियता की आँख बनी रहती है, तब क्रोध समाप्त नहीं होता। क्रोध समाप्त होता है, तीसरी आँख खुलने से। तीसरी आँख समता की आँख है। कोई भी पदार्थ प्रिय या अप्रिय नहीं होता। जैसे-जैसे अनेकांत की दृष्टि विकसित होती है, प्रियता और अप्रियता का भाव कम होता जाता है और पदार्थ का पदार्थ की दृष्टि से दर्शन करने वाली तीसरी आँख खुल जाती है।

साधना का सूत्र

अनेकांत कोई तत्त्वदर्शन नहीं है। यह हमारे समग्र जीवन का दर्शन है। यह साधना का महान सूत्र है। जब तक राग और द्वेष कम नहीं होते, प्रियता और अप्रियता का भाव कम नहीं होता, तब तक तीसरी आँख नहीं खुलती और अनेकांत की दृष्टि उपलब्ध नहीं होती। अनेकांत को प्राप्त करने के लिए राग और द्वेष को कम करने वाली साधना चाहिए। जैसे-जैसे राग कम होता है, प्रियता का संवेदन कम होता है, वैसे-वैसे अनेकांत का विकास होता है, तीसरी आँख का विकास हो जाता है। सारी दृष्टि बदल जाती है और तब पदार्थ, केवल पदार्थ रह जाता है। वह न प्रिय रहता है और न अप्रिय। जब प्रिय और अप्रिय नहीं रहता, तब क्रोध कैसे रहेगा? क्रोध केवल परिस्थिति से ही नहीं आता। व्यक्ति एक को प्रिय मानेगा और दूसरे को अप्रिय, तब तक क्रोध समाप्त नहीं होगा। जैसे-जैसे प्रियता और अप्रियता का भाव कम होगा, जितना कम से कम होगा, वैसे-वैसे क्रोध भी कम होता जाएगा।

प्रतिक्रिया पर नियंत्रण

क्रिया और प्रतिक्रिया स्वाभाविक हैं। पैर में काँटा चुभा और हाथ तत्काल उसे निकालने के लिए पहुँच गया। काँटा चुभना क्रिया है, प्रतिक्रिया है तत्काल काँटा निकालना। काँटा चुभा, संवेदी तत्त्वों के द्वारा सूचना मस्तिष्क तक पहुँची।

तत्त्वों को निर्देश मिला, मांसपेशियाँ सक्रिय हुईं और हाथ काँटा निकालने के लिए वहाँ पहुँच गया। यह है क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त। जहाँ क्रिया होगी, वहाँ प्रतिक्रिया अवश्य होगी। हम प्रतिक्रिया से बच भी नहीं सकते, किन्तु जो प्रतिक्रियाएँ हमारे हितों का संरक्षण नहीं करती, वे अहित की ओर ले जाती हैं। हमारे लक्ष्य के पथ में विघ्न और बाधा उपस्थित करती हैं, हमारी आदतों को विकृत बनाती हैं। उनसे बचना बहुत जरूरी है। यदि प्रतिक्रिया को स्वाभाविक मानकर बैठ जाएँ तो बड़ी कठिनाई पैदा हो जाएगी। अनेक लोग यही तो मानते हैं कि गाली देने पर गुस्सा आना स्वाभाविक बात है। गुस्सा आए, यह स्वाभाविक है और न आए, तो वह अच्छा आदमी नहीं है। उसके लिए समझा जाता है कि यह तो दब्बू, डरपोक और कमजोर आदमी है। ऐसा प्रसंग आए और आदमी चुप रह जाए, यह कैसा आदमी है? हर प्रतिक्रिया को स्वाभाविक मान लेना भी अनुचित है। हमें विवेक से काम लेना चाहिए। जो प्रतिक्रियाएँ जीवनयात्रा में स्वाभाविक हैं, उनके लिए चिंतन करने की और उन्हें बदलने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु वे प्रतिक्रियाएँ, जो स्वाभाविक नहीं हैं, केवल मान्यतावश या धारणावश फलित हो रही हैं, उनसे बचना हमारे लिए आवश्यक है। कैसे बचें? यह बड़ा जटिल प्रश्न है, क्योंकि अब वे आदतें बन गई हैं और मस्तिष्क में ऐसी संरचना बन चुकी है कि यह स्थिति होने पर, वह स्थिति अनायास हो जाती है। न चाहने पर भी हो जाती है।

पुष्ट आलंबन

मैंने एक प्रश्न उपस्थित किया था कि प्रकाश के लिए प्रयत्न किया जाता है, अंधकार के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना होता, पर प्रकाश तो चला जाता है और अंधकार वहीं रह जाता है। क्षमा के लिए बहुत प्रयत्न किया जाता है, समय आने पर क्षमा की बात भुला दी जाती है और क्रोध सहज ही उभर आता है। ये स्थितियाँ स्वतः उभरती हैं। इनसे कैसे बचा जाए? इनसे बचने के लिए पुष्ट आलंबन की आवश्यकता है। जैन आचार्यों ने एक शब्द का चुनाव किया—पुष्ट आलंबन। आलंबन और पुष्ट आलंबन, ये दो होते हैं। सहारा चाहिए। सहारा भी मामूली नहीं, गली (बहाना) निकालने वाला नहीं। आलंबन भी पुष्ट चाहिए। यह गली निकालने की बात तो बहुत कमजोरी की बात होती है।

तेरापंथ की घटना है। आचार्य ऋषिराय ने जयाचार्य को आदेश दिया कि बीदासर से बीकानेर चले जाओ। भयंकर मौसम, भयंकर गर्मी और रेतीला रास्ता। भयंकर गर्म टीले। सड़कें नहीं थीं। सत्तर मील जाना। आषाढ़ का महीना। रास्ते में पानी का नाम नहीं। धूप की समस्या और उन टीलों में से चलना। पूरा रेगिस्तान। आदेश हो गया। ऋषिराय बैठे थे मेवाड़ में और आदेश हो गया जयाचार्य को, बीदासर से बीकानेर चले जाओ। साधुओं ने सोचा बड़ी समस्या है। श्रावकों ने सोचा बहुत बड़ी बात है। न जाने क्या हो जाए? सचमुच बात भी ऐसी थी कि प्राणांत तक हो जाए। ऐसी स्थिति भी रास्ते में आ गई, विहार करने के बाद। जयाचार्य ने स्वयं लिखा है कि पहले ही दिन प्राणांत हो जाए, ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ा। लोगों ने मिलकर कहा, 'महाराज! अपना अनुमान है, आचार्य के आदेश को अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता, किन्तु आप कोई गली निकाल लें, जिससे आदेश का पालन हो जाए और विहार भी न करना पड़े।' गली (बहाना) निकाल लें, जयाचार्य ने सुना। वे तत्काल बोले, 'गली निकाले कोई गंवार। क्या मैं नौकर हूँ? गली कोई नौकर निकाले। मैं तो आदेश का पालन करूँगा।'

गली निकालना मूर्खता होती है। समझदार आदमी कभी गली नहीं निकालता। वह अपने लक्ष्य के साथ चलता है, लक्ष्य के लिए चलता है। आलंबन गली निकालने के लिए नहीं होना चाहिए। इसलिए एक शब्द का विशेषण जोड़ा कि आलंबन पुष्ट होना चाहिए। कमजोर आलंबन नहीं चाहिए। इतना पुष्ट आलंबन कि सचमुच ऐसी स्थिति थी, परिस्थितिवश यह काम अनिवार्य हो गया, इसलिए यह करना पड़ा। कमजोर आलंबन से इन वृत्तियों को बदला नहीं जा सकता। पुष्ट आलंबन हो तो प्रतिक्रियाओं से बचा जा सकता है और उनके प्रवाह को मोड़ा जा सकता है।

पुष्ट आलंबन अभ्यास के द्वारा बनता है। आलंबन दोनों हो सकते हैं। एक सिद्धान्त भी आलंबन बन सकता है। एक प्रयोग भी आलंबन बन सकता

है। दोनों प्रकार के आलंबन हमारे सामने उपयोगी बनते हैं। प्राचीन आचार्यों ने मुनिचर्या के प्रसंग में कुछ आलंबनों की सूचनाएँ दी हैं। उन्होंने कहा—‘अमुक स्थिति आ जाए, तो अमुक आलंबन का सहारा लो।’

एक स्थिति आई। आहार नहीं मिल रहा है, उपर्युक्त आहार नहीं मिल रहा है। भूख को कैसे सहा जाए? इसका आलंबन सूत्र है—‘धम्मोत्ति किच्चा’ भूख को सहना मेरा धर्म है। सामने यह आलंबन रखो, ‘यह मेरा धर्म है।’ अभक्ष्य नहीं खाना मेरा धर्म है। अभक्ष्य मिले और उपर्युक्त आहार न मिले तो भूखे रहना मेरा धर्म है। इस धर्म के आलंबन के सहारे उस कठिनाई को पार किया जा सकता है। यह एक बहुत बड़ा आलंबन बनता है।

किसी ने कठोर बात कही, कड़वे शब्द कहे, रूखे शब्द कहे, गाली दी, तब स्वाभाविक है क्रोध, उत्तेजना एवं आवेश आना। जब पुष्ट आलंबन होता है, तो आदमी बच सकता है। एक बहुत महत्त्वपूर्ण आलंबन दिया था कि कोई कुछ कहे, सीख दे, कड़ी बात कहे, कठोर वचन कहे, उस समय तत्त्व पर चिंतन करो, खोज करो—

आक्कुष्टेन मतिमता, तत्त्वर्थान्वेषणे मतिः कार्या।

यदि सत्यं कः कोपः यद्यनृतं किन्नु कोपेन?।।

‘क्या सचमुच मैंने ऐसा किया है? जो यह कह रहा है, क्या इसमें कोई सच्चाई है? यदि सच्चाई है तो क्रोध क्यों करना चाहिए?’ यह सोचना चाहिए कि यह सही कह रहा है। मैंने यह प्रमाद किया। मुझसे यह गलती हुई है, भूल हुई है, यह ठीक कह रहा है। मुझे सच्चाई को स्वीकार करना है, ऋजुभाव से स्वीकार करना है। उसे कहना है कि तुम जो कह रहे हो, वह ठीक है। मुझसे ऐसा हो गया। यदि बात सच नहीं है, केवल भ्रमवश, संदेहवश या कल्पनावश ऐसी बात कही जा रही है, तो सोचो कि वह जो कुछ कह रहा है, वह मुझ पर लागू ही नहीं होता। फिर मैं क्रोध क्यों करूँ? यह बात मुझ पर आ ही नहीं रही, किसी और पर जाती है, मैं लड़ाई को अपने सिर पर क्यों मोल लूँ?’ बहुत सारी बातें होती हैं, बहुत बकवास होती हैं, बहुत गालियाँ चलती हैं, लेकिन मुझ पर कोई असर नहीं, मेरा इससे कोई संबंध नहीं। मुझे आवेश में क्यों आना चाहिए? यह बहुत पुष्ट आलंबन दिया है। बात यदि सच है तो क्रोध करना व्यर्थ है। क्रोध मत करो। यदि झूठी बात है, तुम पर लागू ही नहीं

होती, तो तुम सोचो कि मुझे कह ही नहीं रहा है, किसी पड़ोसी से कह रहा है। इसमें मेरे लिए कुछ है ही नहीं। मेरा इस बात से कोई संबंध ही नहीं है। तुम अपने आपको बचा लो। यह एक बहुत पुष्ट आलंबन है, इसके प्रयोग व अभ्यास से उत्तेजना और आवेश के प्रसंग में खुद को संतुलित रख सकते हैं।

दूसरा प्रसंग है, यदि कोई आदमी किसी की निंदा करता है, तो यह स्वाभाविक है कि मन नाराज हो जाता है। प्रशंसा होती है, तो मन राजी होता है। यह एक प्रतिक्रिया है। ऐसा स्वभाव बन गया है कि कहीं भी प्रशंसा की बात आती है, मन प्रसन्न हो जाता है। थोड़ी-सी निंदा हुई, मन उदास हो जाता है। यह तो स्वाभाविक बात हो गई। अब इस स्थिति से कैसे बचा जा सकता है? इस प्रतिक्रिया से बचने का सुंदर आलंबन है-

‘नन्नस्स वयमा चोरा, नन्नस्स वयमा मुणी।

अप्या अप्यं वियाणाति।’

‘किसी के कहने से कोई चोर नहीं बनता और किसी के कहने से कोई साधु नहीं बनता। आत्मा स्वयं को जानती है कि मैं चोर हूँ या साहूकार हूँ।’ यह एक पुष्ट आलंबन है। यदि इसे पूरी तरह से जीवन में उतार लिया जाए कि दूसरे के कहने से कोई चोर या साहूकार नहीं होता, कोई अच्छा या बुरा नहीं होता, तो प्रतिक्रिया से मुक्त हुआ जा सकता है। अपना आत्मविश्वास प्रबल हो। अपने प्रति अपना विश्वास, अपनी क्षमता के प्रति अपना विश्वास, अपने पुरुषार्थ के प्रति अपना विश्वास हो, तो दूसरे के कहने से कुछ भी नहीं होता। शायद कुछ लोग चाहते भी नहीं कि कोई नया आदमी प्रगति करे। यह एक स्वभाव है कि मौजूदा पीढ़ी भावी पीढ़ी को स्वीकार नहीं करती। वे यही कहेंगे कि आज सब खराब हैं। यह आज की बात नहीं है, यह शाश्वत सत्य है। पहली पीढ़ी ने अगली पीढ़ी को हमेशा कमजोर बतलाया है।

नूतन व पुरातन का टकराव

पुरानी और नई पीढ़ी का संघर्ष बहुत पुराना है। पुराने व्यक्ति और पुरानी कृति को मान्यता प्राप्त होती है। नए व्यक्ति और नई कृति को मान्यता प्राप्त करनी होती है।

मनुष्य तत्काल किसी को मान्यता प्रदान करने में असहज महसूस करता

है। वह स्वभाव से इतना उदार नहीं है कि सहज ही किसी को मान्यता दे सके। नई पीढ़ी में मान्यता प्राप्त करने की छटपटाहट होती है और पुरानी पीढ़ी में अपना अहं होता है, अपना मानदंड होता है, इसलिए वह नई पीढ़ी को मान्यता देने में सकुचाती है। यह संघर्ष साहित्य, आयुर्वेद, धर्म और सभी क्षेत्रों में रहा है। 'पुराना होने मात्र से सब कुछ अच्छा नहीं होता', महाकवि कालिदास का यह स्वर दो पीढ़ियों के संघर्ष से उत्पन्न हुआ है। उनके काव्य और नाटक के प्रति पुराने विद्वानों ने उपेक्षापूर्ण व्यवहार किया, तब उन्हें यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ा कि पुराना होने मात्र से कोई काव्य उत्कृष्ट नहीं होता और नया होने मात्र से कोई काव्य निकृष्ट नहीं हो जाता। परीक्षा के बाद ही किसी काव्य को उत्कृष्ट या निकृष्ट बताया जाना चाहिए।

सत्य के विविध आयाम

मनुष्य हमेशा से ही यह जानने के लिए जिज्ञासु रहा है कि सत्य क्या है? जब से मनुष्य ने सोचना शुरू किया, तब से उसके मन में यह प्रश्न उठता रहा है कि सच्चाई क्या है? वास्तविकता क्या है? तत्त्व क्या है? 'किं तत्त्वम्?' यह प्रश्न हमारी सृष्टि में लाखों-लाखों बार पूछा गया। जिसकी भी प्रज्ञा जागी, उसने यह प्रश्न अवश्य ही किया।

एक बार गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा, 'किं तत्त्वम्?' तत्त्व क्या है? भगवान ने कहा, 'उपन्नेइ वा।' उत्पन्न होना तत्त्व है, उत्पाद तत्त्व है।

मन में संदेह उभरा कि यदि उत्पन्न होना ही तत्त्व है, तो लगातार उत्पाद होता चला जाएगा। आबादी इतनी बढ़ जाएगी कि पैर टिकाने लायक जगह भी नहीं मिलेगी। प्राणी से प्राणी सट जाएगा, पदार्थ से पदार्थ सट जाएगा और फिर आगे जन्म लेने वालों के लिए कहीं अवकाश नहीं रहेगा। बड़ी समस्या हो जाएगी।

उत्पाद वाली बात समझ में नहीं आई, तब गौतम ने फिर पूछा, 'किं तत्त्वम्?' तत्त्व क्या है?

भगवान ने कहा, 'विगमेइ वा।' विनष्ट होना तत्त्व है।

मन पुनः आशंका से भर गया। उत्पन्न होना भी तत्त्व है और विनष्ट होना भी तत्त्व है। उत्पन्न होना और नष्ट होना, जन्म लेना और मर जाना, यह तत्त्व कैसे हो सकता है? जन्मा और मरा, फिर शेष क्या रहा? बात पूरी समझ में नहीं आई।

उन्होंने फिर पूछा, 'भन्ने! किं तत्त्वम्?' तत्त्व क्या है?

भगवान ने कहा, 'ध्रुवेई वा।' ध्रुव रहना, शाश्वत रहना तत्त्व है।

गौतम का मन समाहित हो गया। उत्पन्न होना, नष्ट होना और अपने अस्तित्व में बने रहना, त्रिपदी तत्त्व है, सत्य है। सृष्टि, प्रलय और अस्तित्व, यह तत्त्व है। शाश्वत और अशाश्वत का एक युगल है। जैसे स्त्री और पुरुष का एक जोड़ा होता है, वैसे ही प्रकृति में भी एक जोड़ा होता है, शाश्वत और अशाश्वत का। कोरा शाश्वत या नित्य भी नहीं और कोरा अशाश्वत या अनित्य भी नहीं। इस सृष्टि में कोरा नित्य होता, तो उसके नामकरण की सुविधा नहीं होती। क्या नाम रखा जाए? यदि अनित्य है, तब तो नित्य को जाना जा सकता है और नित्य है तो अनित्य को जाना जा सकता है। किन्तु यदि कोरा नित्य होता या कोरा अनित्य होता, तो कोई नामकरण नहीं हो पाता। यदि कोरा प्रकाश होता, अंधकार नहीं होता, तो प्रकाश का नामकरण ही नहीं हो पाता। जितने नाम बनते हैं, वे विरोधी के आधार पर बनते हैं। विरोधी दल का होना, यह केवल राजनीतिक विचार ही नहीं है। विरोधी का होना मूलभूत सिद्धान्त है। सारी प्रकृति की व्याख्या का, सारे तत्त्व की व्याख्या का, यदि विरोधी न हो, तो कोई तत्त्व हो ही नहीं सकता। कोई तत्त्व है, कोई सत्य है, इसका अर्थ है कि उसका विरोधी तत्त्व अवश्य है। यदि विरोधी न हो तो तत्त्व का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। चेतन का अस्तित्व तब है, जब अचेतन है और अचेतन का अस्तित्व तब है, जब चेतन है। चेतन के बिना अचेतन और अचेतन के बिना चेतन का अस्तित्व नहीं हो सकता। दोनों का होना अनिवार्य है।

अनेकांत सूत्र

अनेकांत का एक सूत्र है—सह प्रतिपक्ष। केवल युगल ही पर्याप्त नहीं है,

विरोधी युगल होना चाहिए। समूची प्रकृति में, समूची व्यवस्था में विरोधी युगलों का अस्तित्व है। ज्ञान है तो अज्ञान भी है। दर्शन है, तो अदर्शन है, सुख है तो दुःख भी है। मूर्च्छा है, जागरण है। जीवन है, मृत्यु है। शुभ है, अशुभ है।

हमारा जीवन विरोधी युगलों के आधार पर चलता है। विरोधी युगलों के समाप्त हो जाने पर जीवन भी समाप्त हो जाएगा। हठयोग के आधार पर जीवन की व्याख्या है—प्राण और अपान का योग। प्राणधारा के पाँच प्रकार हैं। उनमें एक है प्राण और एक है अपान। प्राण ऊपर से नीचे जाता है, नाभि तक उसके स्पंदन जाते हैं। अपान नीचे से नाभि तक आता है। जब तक ये विरोधी धाराएँ बनी रहती हैं, तब तक जीवन है। जब यह क्रम टूट जाता है, तब जीवन भी टूट जाता है। जीवन का टूट जाना या मृत्यु का घटित हो जाना, इसका अर्थ है प्राण और अपान का बाहर निकल जाना। विरोधी दिशाओं के समाप्त हो जाने से जीवन समाप्त हो जाता है।

विरोधी प्रवाह

शरीर में दो केन्द्र हैं। पहला है, ज्ञान केन्द्र और दूसरा है, काम केन्द्र। दोनों ही विरोधी हैं। काम केन्द्र चेतना को नीचे ले जाता है और ज्ञान केन्द्र उसे ऊपर ले जाता है। एक है अधोगमन और दूसरा है ऊर्ध्वगमन। चेतना का नीचे अवतरण और चेतना का ऊर्ध्व अवतरण, दोनों विरोधी हैं।

विज्ञान की दृष्टि से

विज्ञान की भाषा में इन्हीं दो केन्द्रों के वाचक दो ग्लैण्ड्स हैं। एक है पिनियल, पिच्यूटरी ग्लैण्ड और दूसरा है गोनाड्स। पिनियल और पिच्यूटरी, ये दोनों ज्ञान के विकास की ग्रंथियाँ हैं। गोनाड्स काम विकास ग्रंथि है। हमारी चेतना का विकास पिनियल और पिच्यूटरी के विकास पर निर्भर है। पिच्यूटरी और पिनियल का साव जब गोनाड्स को मिलता है, तब काम की उत्तेजना बढ़ती है। जब वह साव बदलता है, हाइपोथेलेमस की क्रिया बदलती है, तब ज्ञान का विकास होने लग जाता है।

दोनों विरोधी बातें हमारे शरीर की संरचना में समाई हुई हैं। दोनों ग्रंथियाँ अपना-अपना काम करती हैं। दोनों की क्रियाएँ विरोधी हैं, एक दूसरे को

उलटने वाली हैं। शरीर की रचना, प्रकृति की रचना, परमाणु की रचना या विद्युत की रचना, सब में विरोधी तत्त्व काम कर रहे हैं। विद्युत में धन और ऋण दोनों काम करते हैं। दोनों साथ-साथ क्रिया करते हैं। केवल धन या केवल ऋण से विद्युत कार्यकारी नहीं होती। दोनों का ही होना अनिवार्य है।

प्रतिपक्ष की आवश्यकता

हमारी समूची व्यवस्था का आधार हैं—विरोधी युगल। पक्ष और प्रतिपक्ष, दोनों आवश्यक हैं। केवल पक्ष भी निकम्मा है और केवल प्रतिपक्ष भी निकम्मा है। दोनों का योग सफल होता है।

अनेकांत के आधार पर खोजा गया है कि लोक है और अलोक भी हैं। बड़ी विचित्र व्यवस्था है। लोक या संसार की कल्पना अन्यान्य दर्शनों में मिलती है, किन्तु अलोक की कल्पना अनेकांत की सीमा से परे नहीं मिलती। आज के विज्ञान ने अवश्य ही इस कल्पना को एक रूप दिया है। प्राचीन दर्शनों में लोगों की विभिन्न कल्पनाएँ प्राप्त हैं, किन्तु अलोक की चर्चा किसी दर्शन में नहीं है।

आज का विज्ञान कहता है कि यूनिवर्स है तो एंटी यूनिवर्स भी है, कण है तो प्रतिकण भी है। अणु है तो प्रतिअणु भी है। पदार्थ है तो प्रतिपदार्थ भी है। यदि प्रतिअणु न हो तो अणु का और प्रतिजगत न हो तो जगत का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता।

जब जैन धर्म ने लोक और अलोक की व्यवस्था दी, तब यह प्रश्न उठा कि लोक की चर्चा समझ में आ सकती है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष है। अलोक प्रत्यक्ष नहीं है, उसे कैसे स्वीकारा जाए? बहुत जटिल प्रश्न है। इस प्रश्न को समाहित करने के लिए अनेकांत की दृष्टि का उपयोग करना पड़ा। अनेकांत ने कहा—दो तत्त्व हैं, गति और स्थिति। दोनों साथ होती हैं। जहाँ गति और स्थिति, दोनों नियम काम करते हैं, वह है लोक। जहाँ गति और स्थिति का नियम लागू नहीं होता, वह है अलोक। जहाँ चेतन और अचेतन का जोड़ा नहीं होता, जहाँ केवल अचेतन होता है, केवल आकाश होता है, आकाश के साथ कोई पदार्थ नहीं होता, वह है अलोक।

व्यवहार के विभिन्न आधार

प्रत्येक पदार्थ अपने विरोधी पदार्थ से जुड़ा हुआ है। वैज्ञानिकों ने प्रतिकण को खोजने के लिए सूक्ष्म उपकरणों का उपयोग किया। ऐसा सूक्ष्म यंत्र बनाया गया, तब उन्हें प्रतिकण का पता चला। आज यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो चुका है कि प्रतिकण के बिना कण का अस्तित्व नहीं हो सकता। दोनों का होना अनिवार्य है। अनेकांत का मूल आधार है विरोधी के अस्तित्व की स्वीकृति, प्रतिपक्ष की स्वीकृति। इस स्वीकृति से ही अनेकांत का विकास होता है। अनेकांत कहता है कि सत्य को एक दृष्टि से मत देखो। सत्य को अस्तित्व की दृष्टि से देखते हो तो साथ-साथ उसे नास्तित्व की दृष्टि से भी देखो। स्वीकृति के साथ अस्वीकृति भी चलनी चाहिए। किसी एक से काम नहीं चलता। हमारे जीवन का व्यवहार, समाज का व्यवहार इन विरोधी तत्त्वों की ईंटों से बना है। यदि ये ईंटें न हों, तब न कोई व्यवहार बनेगा और न कोई आचार। विरोधी चाह और विरोधी आकांक्षा सामने आती हैं। एक आदमी एक प्रकार से सोचता है, तो दूसरा आदमी दूसरी प्रकार से उससे बिल्कुल उल्टा सोचता है। एक आदमी को एक कार्य लाभप्रद प्रतीत होता है, तो दूसरे को वही कार्य पतन की ओर ले जानेवाला लगता है। एक उसे उपयोगी मानता है, दूसरा उसे सर्वथा अनुपयोगी मानकर अस्वीकार करता है। एक ही पदार्थ के विषय में अनेक विरोधी धारणाएँ होती हैं। यह स्वाभाविक है। इसमें अस्वाभाविक जैसा कुछ भी नहीं है।

निषेधात्मक भाव से बचाव

पौराणिक कहानी है कि तपस्वी ने तप करना शुरू किया और इंद्र का आसन डोल गया। जब-जब तपस्वी तप करते हैं, तब-तब इंद्रासन डोल ही जाता है। इंद्र अपने आसन को डोलते देख चिंतातुर हो गया। उसने सोचा, खतरा पैदा हो रहा है। मेरा सारा ऐश्वर्य समाप्त हो जाएगा। मेरे स्थान पर दूसरा आ जाएगा। वह तत्काल धरती पर आया। उसने देखा, एक तपस्वी तप तप रहा है। कारण समझ में आ गया। उसने उपाय सोचा। सोने की एक सुंदर तलवार लाकर उसने तपस्वी के पास रख दी और हाथ जोड़कर बोला, 'तपस्वी, मैं शहर

जा रहा हूँ। मेरी तलवार कुछ समय के लिए अपने पास रख लो। अभी-अभी लौट आता हूँ। आते ही मैं अपनी तलवार ले लूँगा।'

तपस्वी ने कहा, 'अच्छा, रख दो। जल्दी लौट आना।' इंद्र चला गया। एक-दो घंटे बीते। दिन बीत गया। रात भी बीत गई। इंद्र लौटकर नहीं आया, उसे तो आना ही नहीं था। सोने की तलवार थी। तपस्वी को सुरक्षा करनी थी, अन्यथा उसे कोई चुराकर ले जा सकता था। प्रतीक्षा करता रहा। इंद्र नहीं आया। प्रतीक्षा में उसने साधना बंद कर दी। साधना कमजोर हो गई। तपस्वी तपस्या को भूल गया। सोने की तलवार की सुरक्षा स्मृति में बनी रही। साधना का आसन हिला और इंद्रासन मजबूत हो गया।

मैं देखता हूँ कि जब-जब तपस्या शुरू होती है, इंद्रासन डोल ही जाता है। सबके भीतर एक-एक इंद्र बैठा है। उसका अपना इंद्रासन भी है। जब आदमी ध्यान करता है, इंद्र का आसन डोलने लगता है, गद्दी को खतरा पैदा हो जाता है, तब फिर वह सोने की तलवार रख जाता है और साधक उसकी सुरक्षा में ध्यान को भूल जाता है। जिन लोगों ने ध्यान का अभ्यास और अनुभव किया है, वे जानते हैं कि जो निषेधात्मक विचार सामान्य अवस्था में कभी नहीं आते, वे ध्यान-काल में अवश्य ही उभरते हैं। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि जब आदमी ध्यान करता है, तब इंद्रासन डोल जाता है और उस आसन की सुरक्षा के लिए, यह सोने की तलवार (निषेधात्मक भाव) सामने आती है। साधक जब ध्यान की गहराइयों में उतरता है और जब उसका तेज बढ़ता है, तब भीतर बैठा हुआ इंद्र काँप जाता है। इंद्र का अर्थ है—परम ऐश्वर्य एवं शक्ति से सम्पन्न और सबसे बड़ा। हमारे जीवन-चक्र में एक परम शक्तिशाली तत्त्व बैठा हुआ है, जो समूचे जीवन का संचालन कर रहा है। वह इंद्र का स्थान लिए बैठा है। उसका नाम लोभ है। केन्द्र में लोभ है और दूसरे सारे तत्त्व परिधि में हैं। केन्द्र का स्थान, इंद्र का स्थान केवल लोभ को ही प्राप्त है। लोभ सबका संचालन करता है। यह सबसे अधिक शक्तिशाली, ऐश्वर्य और वैभव से सम्पन्न है। यह समर्थ है। दूसरे सारे इसकी पर्युपासना में लगे रहते हैं।

सैद्धान्तिक भाषा में कहा जाता है कि क्रोध, अहंकार और माया के नष्ट हो जाने पर भी लोभ बचा रहता है। परिधि के समाप्त हो जाने पर भी केन्द्र बच जाता है। सब नष्ट हो जाते हैं, लोभ सबके अंत में नष्ट होता है।

केन्द्र में लोभ है और उसने ममता की एक ग्रंथ पैदा की है। इसीलिए मनुष्य के जीवन में निषेधात्मक विचारों का साम्राज्य है। विधेयात्मक विचार कम आते हैं, निषेधात्मक विचार अधिक आते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के मन में भय की भावना उभरती रहती है। अनिष्ट की कल्पना और आशंका आती रहती है। ऐसा या वैसा हो जाएगा की चिंता से आदमी का मन डरा रहता है। प्रत्येक व्यक्ति यदि आत्मावलोकन करे, आत्मनिरीक्षण करे तो उसे सहज ज्ञात हो जाएगा कि उसमें नब्बे प्रतिशत विचार निषेधात्मक और मुश्किल से दस प्रतिशत विचार ही विधायक हैं। जब आदमी ध्यान की अवस्था में होता है, तब वे सारे निषेधात्मक विचार उभरते हैं, उनका जाल बिछ जाता है।

प्राचीन साहित्य में देवों के साथ जुड़ी हुई अनेक घटनाओं का विवरण मिलता है। यदि ध्यान और साधना के संदर्भ में इनकी व्याख्या की जाए तो वहाँ देव, पिशाच या राक्षस नहीं टिकेंगे। देव, राक्षस या पिशाच सब हमारे निषेधात्मक विचार ही हैं।

भगवान महावीर के युग की घटना है। वाराणसी नगरी में एक श्रमणोपासक रहता था। उसका नाम चुलनीपिता था। उसने भगवान महावीर से धर्मप्रज्ञप्ति स्वीकार की और सतत धर्म-जागरिका करने लगा। एक दिन वह पौषधशाला में साधना कर रहा था। दिन बीता, रात आई। आधी रात बीत गई। वह जागरूक था, इसलिए सो नहीं रहा था। ध्यान की साधना चल रही थी। चारों ओर अंधकार ही अंधकार था, पर उसका अन्तःकरण ध्यान की ज्योति से जगमगा रहा था। सोने के समय ध्यान की साधना अच्छी चलती है। अंधकार में प्रकाश की साधना ज्यादा अच्छी चलती है। प्रकाश और अंधकार का मेल नहीं होता। अंधकार में प्रकाश का अधिक मेल बैठता है।

मध्यरात्रि का समय। नीरव वातावरण। एकांत और शांति की स्थिति। चुलनीपिता धर्म-ध्यान में लीन बैठा है। अकस्मात उसे प्रतीत हुआ कि एक देव सामने प्रकट हुआ है। देव ने कहा, 'देवानुप्रिय! क्या कर रहे हो? ध्यान-साधना को छोड़ दो। इससे कुछ भी होना-जाना नहीं है।' चुलनीपिता शांत और सहज बैठा रहा। देव ने दो-तीन बार कहा, पर चुलनीपिता फिर भी मौन और शांत। देव फिर बोला, 'सुन नहीं रहे हो? छोड़ दो ध्यान को। साधना को तिलांजलि देकर चले जाओ। अगर तुम मेरी बात नहीं मानोगे, तो तुम्हें उसका बुरा परिणाम भुगतना होगा। वह परिणाम बहुत भयंकर होगा। उठो, चले जाओ अपने घर।' चुलनीपिता इस बार भी अडोल, अप्रकम्प और अविचलित बैठा रहा। देव बोला, 'तुम नहीं मानते हो तो लो, मैं अभी तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र को तुम्हारे सामने लाकर मारता हूँ। उसके टुकड़े-टुकड़े कर कड़ाही में डालता हूँ और उसी रक्त से तुम्हारे शरीर का सिंचन करता हूँ।' पर चुलनीपिता अप्रकम्प, अडोल और अभय। देव गया, ज्येष्ठ पुत्र को घसीटकर घर से निकाल लाया और उसे चुलनीपिता के पास पटका, मारा, टुकड़े-टुकड़े कर कड़ाही में तला और फिर उसके रक्त से चुलनीपिता के शरीर को सींचा।

इतना होने पर भी चुलनीपिता अविचलित रहा। वह अपनी ध्यान की साधना में लगा रहा। देव बोला, 'बड़े मूर्ख और निर्मम हो! एक ओर धार्मिक आराधना का ढोंग कर रहे हो, दूसरी ओर करुणा का स्रोत सूखता जा रहा है। धार्मिक वह होता है, जिसमें करुणा होती है। बेटा तड़प-तड़प कर मर रहा है और तुम इतने निष्ठुर हो कि उसे बचाने के लिए भी नहीं उठे। अच्छा, अब भी मान जाओ। अन्यथा मैं तुम्हारे दो और पुत्रों की भी वही दशा करूँगा, जो पहले पुत्र की कर चुका हूँ। छोड़ दो धर्म-कर्म को। जाओ, अपने पुत्र की रक्षा करो।'।

लेकिन चुलनीपिता पर इसका कोई असर नहीं हुआ। देव ने दूसरे लड़के को भी उसी विधि से उसके सामने मारा, टुकड़े-टुकड़े किए, कड़ाहे में तला और रक्त से चुलनीपिता के शरीर को सींचा।

लेकिन चुलनीपिता का एक रोम भी नहीं हिला। देव ने कनिष्ठ पुत्र की भी वही दशा की, पर चुलनीपिता अपनी साधना में लगा रहा।

तीनों पुत्रों की हत्या की गई। देव निराश हो गया। चुलनीपिता का एक रोम भी प्रकम्पित नहीं हुआ। देव ने आखिर में कहा, 'मेरी बात मानना चाहते हो, तो मान लो। अन्यथा अब मैं तुम्हारी माता भद्रा को घर से निकाल कर लाता हूँ और तुम्हारे सामने उसके टुकड़े-टुकड़े कर कड़ाही में तलता हूँ।'

चुलनीपिता ने सुना। उसने सोचा, 'यह दुष्ट कुछ भी कर सकता है। इसने मेरे तीनों पुत्रों की हत्या कर डाली। अब मेरी माता को भी यह मार डालेगा। माँ के प्रति ममता उभर आई। स्नेह उमड़ा, ध्यान का आसन डोल गया। वह साधना को छोड़ उस दुष्ट पुरुष को पकड़ने दौड़ा, लेकिन वह पुरुष तो आकाश में उड़ गया। घर के सब लोग दौड़े-दौड़े आए। न पुत्रों की हत्या हुई थी और न माँ को मारने की किसी ने तैयारी की थी। न कड़ाह था, न खून था और कुछ भी नहीं था। सारी देवमाया थी।

इस घटना की पौराणिक व्याख्या यह हो सकती है कि देव आया और उसने वैसा घटित किया। ध्यान या योग के संदर्भ में इसकी यह व्याख्या हो सकती है कि वहाँ न कोई देव था, न कुछ और था। व्यक्ति के अपने निषेधात्मक भाव जागे और उन भावों ने ऐसा मायाजाल रचा कि उस जाल में तीनों लड़के सामने मारे गए और तले गए। जब निषेधात्मक भावों का सिलसिला खत्म हुआ और जैसे ही ध्यान टूटा, सब कुछ समाप्त हो गया, कुछ भी नहीं रहा।

संभव है सह-अस्तित्व

विरोधी धर्म-युगलों का होना वस्तु का स्वभाव है। इसी तरह इन युगलों का सह-अस्तित्व होना भी वस्तु का स्वभाव है। प्रश्न है कि यह कैसे संभव माना जाए? दो विरोधी धर्म एक ही वस्तु में, एक साथ रहें, यह कैसे हो सकता है? यह जटिल समस्या है, किन्तु वस्तु के स्वभाव में जटिलता नहीं होती। इस संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो सर्वथा विरोधी हो, सर्वथा विलक्षण या भिन्न हो। अनेकांत की यह महत्त्वपूर्ण खोज है कि कोई भी तत्त्व सर्वथा सदृश नहीं होता और न ही कोई तत्त्व सर्वथा विसदृश होता है। हम जिसे सदृश या समान मानते हैं, वह विसदृश और असमान भी है। हम जिसे भिन्न मानते हैं, वास्तव में वह अभिन्न भी है। केवल स्थूल या व्यक्त पर्यायों के आधार पर हम सदृश या विसदृश, समान या असमान, भिन्न या अभिन्न कह देते हैं। जब हम सूक्ष्म में जाते हैं, सूक्ष्म नियमों का अध्ययन, मनन और चिंतन करते हैं, तब ज्ञात होता है कि हमारी धारणाएँ मिथ्या हैं। यहाँ सारे नियम बदल जाते हैं। हमारी स्थूल एवं व्यक्त पर्यायों के आधार पर बनी धारणाओं में व्यापक परिवर्तन आ जाता है। अव्यक्त का संसार जब हमारे सामने प्रकट होता है, अज्ञात का संसार जब हमारे सामने ज्ञात होकर उभरता है, तब सूक्ष्म नियम हमारी समझ में आते हैं और सारी स्थूल धारणाएँ बदल जाती हैं।

तीन का साम्य

प्रकाश, शब्द और रंग तीन हैं। हम प्रकाश को अलग मानते हैं। शब्द को अलग और रंग को भी अलग मानते हैं, किन्तु विज्ञान इन्हें अलग नहीं मानता। शब्द अर्थात् ध्वनि और रंग अर्थात् वर्ण। ये दोनों प्रकाश के ही प्रकम्पन हैं। भिन्न-भिन्न आवृत्तियों (फ्रीक्वेंसी) पर ये प्रकम्पन बनते हैं और प्रकाश, ध्वनि या वर्ण के रूप में गृहीत होते हैं। वर्ण (रंग) प्रकाश का उनचासवाँ प्रकम्पन है। ध्वनि भी प्रकाश की ही फ्रीक्वेंसी है। ध्वनि और रंग दो नहीं हैं। रंग को सुना जा सकता है और ध्वनि को देखा जा सकता है। रंग को सुनने का माध्यम है 'आरोट्राल' मशीन। आवृत्तियों का अंतर करने पर रंग सुनाई देने लगता है एवं ध्वनि दिखाई देने लगती है। भिन्न-भिन्न लगने वाली वस्तुएँ एक बन जाती हैं। हमारी इंद्रियाँ विभिन्न प्रकार के विषयों को ग्रहण

करती हैं। आँख देखती है, कान सुनता है, नाक सूँघता है, जीभ चखती है और त्वचा छूती है। यह बहुत स्थूल विभाजन है। यदि सूक्ष्म में जाएँ तो आँख का काम केवल देखना ही नहीं है, वह सुन भी सकती है, चख भी सकती है और सूँघ भी सकती है। इसी तरह जीभ का काम केवल चखना ही नहीं है, वह सुन भी सकती है।

जीभ की विकृति

आयुर्वेद के महान ज्ञाता कश्यप कौमार भृत्य चिकित्सा के क्षेत्र में प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। उन्होंने एक बात लिखी है—जैसे हमारे हाथ दो होते हैं। वैसे ही हमारी जीभ भी दो होती हैं। जीभ के एक भाग का काम है चखना और दूसरे भाग का काम है सुनना। उनका कहना है कि कान सुनता नहीं है। वह तो केवल ध्वनि को ग्रहण करता है और जीभ तक पहुँचा देता है। वास्तव में जीभ ही सुनती है। उन्होंने अपने मत के समर्थन में एक महत्त्वपूर्ण तर्क दिया। एक आदमी बहरा है। यह अनिवार्य नहीं है कि वह गूँगा भी हो। किन्तु जो गूँगा है, उसका बहरा होना अनिवार्य है। जो जीभ से बोल नहीं सकता, वह गूँगा होता है और जो कानों से सुन नहीं सकता, वह बहरा होता है। जो बहरा है, वह बोल भी सकता है, लेकिन जो गूँगा है, वह बोल नहीं सकता और सुन भी नहीं सकता। जिसकी जीभ विकृत है, जो बोल नहीं सकता, जो गूँगा है, वह निश्चित ही बहरा होता है। यह अटल नियम है। उन्होंने बताया कि गूँगा व्यक्ति इसलिए बहरा होता है, क्योंकि उसकी जीभ विकृत है, वह सुन नहीं पाती। कान ठीक है। वे ध्वनि को ग्रहण करने के बाद जीभ तक पहुँचा देते हैं, परन्तु जीभ पकड़ नहीं पाती और आदमी सुन नहीं पाता। इसलिए जो गूँगा है, उसका बहरा होना जरूरी है। जो गूँगा नहीं है, उसकी जीभ में सुनने की शक्ति है, पर जिसका कान विकृत हो जाता है, वह ध्वनि को जीभ तक पहुँचा नहीं पाता, इसलिए वह सुन नहीं सकता। आज के शरीरशास्त्रियों ने भी यह माना है कि सुनने की जितनी क्षमता दाँतों की हड्डियों में है, उतनी कान में नहीं है। कान की अपेक्षा दाँत अच्छा सुन सकते हैं। आज तो यह भी प्रयत्न किया जा रहा है कि विश्व में कोई व्यक्ति बहरा न रहे। दाँतों की हड्डियों पर एक विशेष यन्त्र लगा देने से बहरा आदमी भी सुनने लग जाएगा। जीभ सुन सकती है। दाँत सुन सकते हैं, यह बहुत निकट का संबंध है।

संभिन्नस्त्रोतोलब्धि

इससे भी आगे की बात जैनाचार्यों ने प्रतिपादित की है। उन्होंने एक यौगिक विभूति का उल्लेख किया है, जिसकी संज्ञा है 'संभिन्नस्त्रोतोलब्धि'। यह एक ऐसी लब्धि है, जिससे सारा शरीर 'करण' बन जाता है, इंद्रिय बन जाता है। फिर यह स्थूल विभाग की बात व्यर्थ हो जाती है कि आँख ही देख सकती है, कान ही सुन सकता है। इस विभूति के प्रकट होने पर शरीर का प्रत्येक अवयव पाँचों इंद्रियों का काम करने लग जाता है। समूचा शरीर देख सकता है, समूचा शरीर सुन सकता है। कुछ लड़कियाँ अंगुलियों से पढ़ सकती हैं, आँख का काम अंगुलियों से कर सकती हैं। इस बात से अनेक वैज्ञानिकों को आश्चर्य होता है। प्रत्यक्ष को नकारा नहीं जा सकता। वे यह भी नहीं कह सकते कि अंगुलियों से नहीं पढ़ा जा सकता। किन्तु क्यों और कैसे पढ़ा जाता है, इसकी व्याख्या वे नहीं कर सकते। यह विषय अभी विज्ञान से परे है। वैज्ञानिक इसे समझने का प्रयास कर रहे हैं, परन्तु यह तथ्य हजारों वर्षों पूर्व स्वीकृत हो चुका है कि समूचा शरीर प्रत्येक इंद्रिय का काम कर सकता है। एक इंद्रिय से पाँचों इंद्रियों का काम लिया जा सकता है या पूरे शरीर से किसी भी इंद्रिय का काम लिया जा सकता है।

व्यक्त एवं अव्यक्त

व्यक्त पर्याय का भेद या ऊपर से प्रतीत होने वाला भेद तब मिट जाता है, जब व्यक्ति गहराई में जाता है, सूक्ष्म नियम की खोज करता है। जब पैठ गहरी होती है, तब सारे नियम टूट जाते हैं। व्यक्त जगत के नियम भिन्न होते हैं और अव्यक्त जगत के नियम सर्वथा भिन्न होते हैं। कठिनाई यह है कि हम अव्यक्त की व्याख्या व्यक्त के द्वारा एवं व्यक्त की व्याख्या केवल व्यक्त के द्वारा ही करना चाहते हैं। हम इस बात को भूल जाते हैं या अस्वीकार कर देते हैं कि यह संसार बहुत छोटा है। यह केवल ऊर्मियों का संसार है, केवल तरंगों का संसार है। इन तरंगों के नीचे सत्य का विराट और अनंत महासागर है, लेकिन इस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हम केवल गहरे असत्य में, गहरे अंधकार में चले जाते हैं। अनेकांत ने सावधान करते हुए कहा है कि ऐसा मत करो। केवल व्यक्त के आधार पर पूर्ण सत्य की कल्पना का अहंकार मत करो। मनुष्य व्यक्त के धरातल पर जीता है, इसलिए जो पर्याय वर्तमान की

सीमा में व्यक्त होता है, उस पर्याय के आधार पर वह अपनी धारणा बना लेता है। ममकार जुड़ता है और वह कहता है कि यह मेरा है। क्यों माना कि यह मेरा है? क्या यह सत्य है? कैसे कहा जा सकता है कि यह मेरा है? जिसे मैं मेरा कहता हूँ, वह मेरा शत्रु है। जिसे मेरा नहीं मानता, पराया मानता हूँ, वह मेरा मित्र है। जिसे मेरा मानता हूँ, उसमें शत्रु छिपा बैठा है और जिसे पराया मानता हूँ, उसमें मित्र छिपा बैठा है। दोनों को ही देख नहीं पा रहा हूँ।

शत्रु एवं मित्र

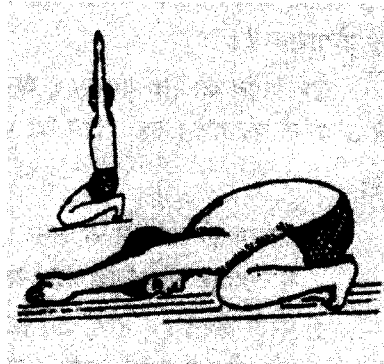
आदमी ने दो खेमे बना लिए हैं। एक है अपनों का खेमा, मित्रों का खेमा और दूसरा है परायों और दुश्मनों का खेमा। आदमी अनादि काल से ही धोखा खाता चला आ रहा है। जितना धोखा 'अपनों' के द्वारा होता है, उतना 'परायों' से नहीं होता। फिर भी आदमी सब कुछ अपना मानता चला आ रहा है, क्योंकि वह व्यक्त एवं स्थूल पर्यायों में ही विश्वास करता है। वर्तमान क्षण में हित करने वाले को मित्र और अहित करने वाले को शत्रु मान लेता है। जबकि वास्तविकता यह है कि मित्रता की बातें करने वाले भी यथार्थ में शत्रु का काम कर देते हैं। माता-पिता अपने लड़के से कहते हैं कि शराब मत पीओ, व्यसनों से दूर रहो, बुरे आचरण से बचो, बुरों की संगत मत करो। लड़का मानता है कि ये मेरे शत्रु हैं। जो कहता है कि चलो, नाइट-क्लब में चलें, शराब पीएँ, नाचें, मौज करें, उसे वह मित्र मान लेता है। यह दृष्टि का विपर्यास है।

स्वर्णिम सूत्र

जितना प्रबल अहंकार उतना प्रबल क्रोध।
क्रोध को कम करना चाहो तो पहले
अहंकार को कम करो।

करके देखें

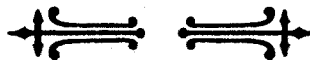
- **अन्तर्यात्रा का प्रयोग—चेतना के ऊर्ध्व अवतरण हेतु।**
सहज आसन, आंखें कोमलता से बंद। चित्त को शक्ति केन्द्र पर ले जाएं। वहां से सुषुम्ना मार्ग की यात्रा करते हुए ज्ञान केन्द्र तक जाएं। फिर उसी मार्ग से शक्ति केन्द्र पर ले जाएं। मंद गति से यह यात्रा चलती रहे। वहां पर होने वाले प्राण के प्रकंपनों का अनुभव करें। चित्त की गति को श्वास की गति के साथ जोड़ दें। श्वास छोड़ते समय चित्त को नीचे से ऊपर ले जाएं और श्वास लेते समय चित्त को ऊपर से नीचे जाएं। इस तरह का प्रयोग प्रतिदिन १५ मिनट करें।
- **मंत्र का प्रयोग**
अरहंता मंगल—चित्त को कंठ के मध्यभाग विशुद्धि केन्द्र पर केन्द्रित रखते हुए मंत्र की प्रतिदिन एक माला करें।
परिणाम—भाव-विशुद्धि।
- **आसन-प्राणायाम**
शंशाकासन—वन्दनासन में पंजों के बल पर बैठे। हाथों को घुटनों पर रखें। श्वास भरते हुए हाथों को आकाश की ओर उठाएँ। अब श्वास छोड़ते हुए हाथ एवं ललाट को भूमि का स्पर्श कराएं। श्वास को रोकें, फिर श्वास को भरते हुए हाथों को ऊपर उठाएं। अब श्वास का रेचन करते हुए हाथों को घुटनों पर स्थापित करें। यह एक आवृत्ति है, इस प्रकार प्रतिदिन प्रातः तीन बार करें।
लाभ—क्रोध उपशमन एवं मानसिक शांति।



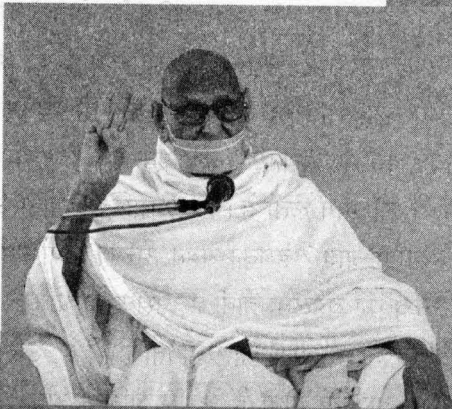
अध्याय कहता है

जो समता की दृष्टि जागृत कर लेता है—

- वह क्रोध को विफल करना जानता है।
- वह अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों में सम रहता है।
- वह दूसरों की आलोचना नहीं करता है।
- वह सत्य की खोज में पुरुषार्थ करता है।
- वह चेतना को ऊर्ध्वगामी बनाने का अभ्यास करता है।
- वह व्यवहार कुशलता को प्राप्त करने का प्रयास करता है।
- वह विधायक भावों का निर्माण करता है।
- वह अपनी इन्द्रियों का सम्यक् उपयोग करता है।
- वह अपनी आत्मा को ही अपना मित्र मानता है।



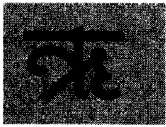
“हमारी जैसी वृत्ति होगी, वैसी ही प्रवृत्ति होगी। हमारा सारा आचरण और सारा व्यवहार हमारी मौलिक वृत्ति पर आधारित होता है। वृत्ति प्रकृति को जन्म देती है और प्रकृति परिणाम लाती है।”



अध्याय

४

लोग जानना चाहते हैं, मेरे जीवन के बारे में, मेरे विकास के बारे में। पूछते हैं कि आपने इतना अधिक कैसे लिखा? इतना विकास कैसे किया? मैं बताना चाहता हूँ कि मुझे एक सूत्र मिला और वह सूत्र मेरे जीवन में सहज व्याप्त हो गया। वह सूत्र है—प्रतिक्रिया से मुक्त रहना।



तु का चक्र बदलता रहता है। समय बदलता रहता है, परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं। प्रश्न है, केवल ऋतुचक्र ही बदलता है या मनुष्य भी बदलता है? इस संसार में कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जिसमें परिवर्तन न होता हो। प्रत्येक तत्त्व में परिवर्तन होता है। मनुष्य भी सदा एकरूप नहीं रहता। वह जन्मता है, बच्चा होता है, किशोर बनता है, युवा बनता है, प्रौढ़ बनता है और बूढ़ा बनता है। नए-नए रूप बदलता जाता है। यह एक स्थूल बात है। एक दिन में आदमी कितना बदलता है, चौबीस घंटों में कितना बदलता है? यह स्थूल बात है। प्रति सैकंड आदमी बदलता रहता है और इस बदलाव का मुख्य हेतु बनता है मन। मन की स्थिति बदलती है तो आदमी में भी बदलाव होता है।

परिवर्तन का नियम

एक प्रौढ़ महिला अपने छोटे बच्चे को अपनी शादी का एलबम दिखा रही थी। एक चित्र में उसके साथ एक युवक खड़ा था।

बच्चे ने पूछा, 'मम्मी यह कौन है?'

महिला ने कहा, 'तेरे पापा।'

बच्चे ने कहा, 'अगर ये पापा हैं, तो फिर अपने घर में जो गंजा आदमी रहता है वह कौन है?'

'वह भी तेरे पापा हैं।'

यह परिवर्तन का नियम है, जो व्यक्ति कभी जवान था, आज बूढ़ा बन गया। कभी चमेली के तेल से सुगंधित काले व घुंघराले बाल थे, आज वह गंजा हो गया। जो इस नियम से अनभिज्ञ हैं, उनके सामने यह प्रश्न उठता रहता है कि यह कौन है और वह कौन है? जो नियम को जानता है, उसके सामने समस्या पैदा नहीं होती। हम परिवर्तन के नियम को नहीं जानते, इसीलिए बहुत बार उलझ जाते हैं। एक व्यक्ति को दोपहर में देखा, वह क्रोध से उबल रहा था। सुबह वह शांतिनाथ था, दोपहर होते-होते वह ज्वालानाथ बन गया। इतना अंतर आ गया। आदमी सोचता है, क्या यह वही आदमी है, जिसे प्रातः काल देखा था। आदमी तो वही है, किन्तु इसका मन बदल गया। आचरण बदल गया, इसलिए व्यवहार भी बदल गया।

व्यक्तित्व के प्रकार

आचरण और व्यवहार का मन से बहुत गहरा संबंध है। हम कभी-कभी आचरण को देखकर कल्पना कर सकते हैं कि अमुक व्यक्ति का मन कैसा है? कभी-कभी मन की स्थिति से आचरण की कल्पना कर सकते हैं। दोनों में गहरा संबंध जुड़ा हुआ है। ऐसा क्यों है? यह परिवर्तन क्यों होता है? इसका कारण क्या है? इस कारण की खोज की गई। धर्म के आचार्यों ने खोज की और आयुर्वेद के आचार्यों ने भी खोज की। अध्यात्म और आयुर्वेद, दोनों बहुत आस-पास चले हैं। आयुर्वेद के एक सिद्धान्त की चर्चा के आधार पर हम समझें। मन के विषय में आयुर्वेद की क्या मान्यता है? मन के आधार पर

मनुष्यों को किस प्रकार बाँटा गया है, उनका वर्गीकरण किस तरह किया गया है ?

आयुर्वेद के अनुसार तीन प्रकार के व्यक्तित्व होते हैं—सात्विक, राजसिक और तामसिक। जिसका मन सत्वगुण प्रधान होता है, वह सात्विक व्यक्ति होता है। जिसका मन रजोगुण प्रधान होता है, वह राजसिक व्यक्तित्व होता है और जिसका मन तमोगुण प्रधान होता है, वह तामसिक व्यक्तित्व होता है।

मनोदशा

क्या जो सात्विक है, वह सात्विक ही रहता है? जो राजसिक है, वह राजसिक ही रहता है, जो तामसिक है, वह तामसिक रहता है? यह नहीं कहा जा सकता कि एक व्यक्ति सदा सात्विक ही रहता है, राजसिक या तामसिक ही रहता है। जीवन के प्रातःकाल में जिस व्यक्ति को बहुत सात्विक देखा, जीवन के उत्तरार्द्ध में वह राजसिक बन जाता है और जीवन की संध्या में वही व्यक्ति तामसिक भी बन जाता है। जिस व्यक्ति को जीवन के पूर्वार्द्ध में तामसिक देखा, वह जीवन के उत्तरार्द्ध में सात्विक बन जाता है। यह परिवर्तन होता रहता है। इसलिए चोर कभी साहूकार बन जाता है और साहूकार कभी चोर बन जाता है। डाकू संत बन जाता है और संत डाकू बन जाता है। मनोदशा के आधार पर यह सारा परिवर्तन होता है। प्रश्न है, जब यह परिवर्तन होता रहता है, तो किसी व्यक्ति के सात्विक बनने का हेतु क्या है? हम किसी व्यक्ति को क्यों सात्विक कहें? सूक्ष्मता से चिंतन किया गया तो पता चला कि इसका भी एक कारण है। एक ही दिन में आदमी तीन प्रकार की अवस्थाओं को भोग लेता है। किसे सात्विक माना जाए? किसे राजसिक और तामसिक माना जाए? इसका बहुत अच्छा समाधान दिया गया। जिस व्यक्ति में जिस तत्त्व की बहुलता होती है, उसके आधार पर उसका नाम बन जाता है। जिस व्यक्ति में सत्वगुण की प्रधानता होती है, उसे सात्विक, जिस व्यक्ति में रजोगुण की बहुलता होती है, उसे राजसिक और जिसमें तमोगुण की बहुलता होती है, उसे तामसिक कहा जाता है। केवल प्रधानता के आधार पर यह नामकरण हुआ है।

नामकरण का आधार

हम इसे उदाहरण की भाषा में समझें। एक व्यक्ति व्यापारी है। वह क्षत्रिय नहीं है, शूद्र नहीं है, ब्राह्मण भी नहीं है। क्या एक व्यापारी कभी पढ़ता नहीं है? अध्ययन नहीं करता है? क्या वह पढ़ना नहीं जानता? एक व्यापारी अध्ययन भी करता है, किन्तु जिस समय वह अध्ययन करता है, उस समय वह व्यापारी नहीं होगा, ब्राह्मण बन जाएगा। जिस समय वह अपने घर-परिवार की सुरक्षा का काम करेगा, क्षत्रिय बन जाएगा। जिस समय वह सफाई का काम करेगा, शूद्र बन जाएगा। मुख्यता के आधार पर यह नामकरण किया गया। एक आदमी को मूर्ख कहा जाता है। क्या उसमें समझदारी नहीं होती? जिसको समझदार कहा जाता है, उसमें मूर्खता नहीं होती? क्या ऐसा कोई समझदार नहीं है, जिसमें मूर्खता का अंश न हो? क्या ऐसा कोई मूर्ख नहीं, जिसमें समझदारी का अंश न हो? हम जिसे पागल कहते हैं, कभी-कभी वह भी बड़ी समझदारी की बातें करता है, और कभी-कभी समझदार भी पागलपन की बात कर लेता है। नामकरण होता है केवल प्रधानता के कारण।

सापेक्ष सत्य

एक व्यक्ति मूर्खतापूर्ण कार्य अधिक करता था, इसलिए सब उसे मूर्ख कहते थे। लोगों से उसने पूछा, 'मुझे ऐसा क्यों कहते हो?' लोगों ने कहा, 'तुम्हारे लक्षण ही ऐसे हैं। बताओ हम क्या करें?' उसने सोचा, 'यहाँ रहना ठीक नहीं है। यहाँ सब मूर्ख ही कहेंगे, इसलिए किसी दूसरे देश चला जाऊँ।' वह वहाँ से बहुत दूर चला गया। किसी गाँव में पहुँचा। उसे प्यास लगी थी। उसने देखा कि कुएँ के पास टोंटियाँ लगी हुई हैं। वह एक टोंटी के पास जाकर बैठ गया। उसे खोला और पानी पी लिया। पानी पीने के बाद वह सिर हिलाने लगा। वह सिर हिलाता जा रहा है, पानी गिरता जा रहा है। दूर से एक आदमी यह तमाशा देख रहा था। उसने कहा, 'अरे मूर्ख! यह क्या कर रहा है?' उसने चौंकर उस व्यक्ति को देखा और आश्चर्य से पूछा, 'तुमने मेरा नाम कैसे

जान लिया ?' व्यक्ति बोला, 'तेरे लक्षणों से पता चल रहा है कि तू मूर्ख है।'

नाम से कोई निरपेक्ष सत्य नहीं है। परम सत्य भी नहीं है। वह एक सापेक्ष सत्य है, सत्य का एक छोटा सा अंश है। उसी आधार पर सारा नामकरण होता है।

अभय कैसे बनें ?

प्रत्येक व्यक्ति अभय होना चाहता है। वह सदा भय से मुक्त होने की चर्चा करता रहता है। वस्तुतः जो दूसरों को डराता है, वह डर की चर्चा करने का अधिकारी नहीं है। अभय के लिए सबसे पहले डराने की बात छोड़ें, फिर डरने की बात ही नहीं आएगी। डरो मत, अभय बनो, इसके स्थान पर यह सूत्र होना चाहिए—'डराओ मत'। यह सूत्र बनेगा तभी 'न डरो' का सूत्र मजबूत बनेगा। भगवान महावीर ने दोनों बातें एक साथ कही—'णो भायए नो वि य भावियप्या'। डरो मत और डराओ मत। इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता।

बुद्धि और अभय

राजर्षि ने राजा संजय से कहा, 'मैं अभयदान देता हूँ, पर तुम भी दूसरों को मत डराओ।' यह अभय का बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जहाँ व्यवहार का जीवन है, सामाजिक और संस्थागत मूल्यों का जीवन है, वहाँ बहुत बार डरना पड़ता है और डरना जरूरी भी हो जाता है।

हम डरें तो बुद्धिमानी के साथ डरें। बुद्धि और डर एक बात है। जड़ और डर दूसरी बात है। मूर्ख वह होता है, जिसमें मूर्खता होती है और जड़ वह होता है, जो अपने खतरों से भी अनजान रहता है। न मूर्खता, न जड़ता, किन्तु बुद्धि के साथ डरें। चूल्हा जलता है तो आदमी उसमें हाथ नहीं डालेगा। चूल्हा बुझा हुआ है तो वह हाथ से उसे साफ कर देगा, क्योंकि उसमें समझ होती है। बुद्धि और अभय, बुद्धि और भय, ये दोनों बातें साथ होनी चाहिए। हम जड़ नहीं हैं कि खतरों से अनजान रहें।

बुद्धि और भय

कहा जाता है कि एक आतंकवादी नहीं डरता, सैनिक भी नहीं डरता।

जहाँ शस्त्र हैं, वहाँ अभय कैसे रहा जा सकता है? अगर अभय होते, तो शस्त्रों की कभी आवश्यकता नहीं होती। एक योद्धा कभी अभय नहीं हो सकता, आतंकवादी कभी अभय नहीं हो सकता और अभय कोई जड़ भी नहीं हो सकता। जड़ में खतरे का भान नहीं होता। अभय वह होता है, जिसमें बुद्धि का विकास होता है। अभय की पहली शर्त है बौद्धिक विकास। जो बुद्धिहीन हैं, वे अभय नहीं हैं, क्योंकि उनमें चेतना विकसित ही नहीं है। इस तथ्य में भी अब संशोधन करना चाहिए। कुछ मनुष्य खतरे से अनजान होते हैं, परन्तु अनेक छोटे प्राणी खतरे को बहुत पहले भाँप जाते हैं। यह प्राणी में अतीन्द्रिय चेतना होने का प्रभाव है। ज्वालामुखी फटने वाला है, सारे प्राणी वहाँ से चले जाएँगे। उनके भागने के आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि ज्वालामुखी फटने वाला है। वेकस्टर ने वनस्पति पर बहुत प्रयोग किए। इस संदर्भ में उनकी एक पुस्तक है 'मॉडर्न रिसर्च'। उन्होंने सात व्यक्तियों को भेजा, पर पौधे शांत बने रहे। फिर उस व्यक्ति को भेजा, जिसकी मनोवृत्ति पौधों को तोड़ने-मोड़ने की थी। वह व्यक्ति जैसे ही पौधों के सामने आया, गेल्वेनोमीटर की सुई घूमने लग गई। पोलिग्राफ पर भय जताने वाली रेखा अंकित हो गई। भय को भाँपने की बुद्धि हर छोटे प्राणी में होती है। त्रस्त की गति ही यह बता देती है कि वे भयभीत होते हैं। 'त्रसिताः पलायिताः'—वे भय से पलायन कर जाते हैं। पलायन एक प्रवृत्ति है। उसका संवेग है भय।

भय और अभय की आवश्यकता

हर व्यक्ति में भय और अभय, दोनों ही होते हैं। अभय आवश्यक है, तो भय भी आवश्यक है। प्रश्न है, कितना डरना चाहिए और कितना नहीं डरना चाहिए? कब डरना चाहिए और कब नहीं डरना चाहिए? कैसे डरना चाहिए और कैसे नहीं डरना चाहिए? कहा गया है—'भय बिनु प्रीति न होय।' यह भी एक सच्चाई है। प्रीति भय के बिना नहीं होती। भय निकल गया और चेतना जागी नहीं तो व्यक्ति उद्वण्ड, आक्रामक बन जाएगा। हमारे संवेग भी नियामक होते हैं। समाज भय के आधार पर चलता है, राज्य भय के आधार पर चलता है, क्योंकि भय नियामक होता है। इसका निदर्शन है यह श्लोक—

हर डर गुरु डर गांव डर, डर करणी में सार।
तुलसी डरै सो ऊबरै, गाफिल खाबै मार।।

भय का कारण

कब किससे डरना चाहिए और कब नहीं डरना चाहिए? इसमें विवेक और बुद्धि की जरूरत है। जहाँ मूढ़ात्मा विश्वस्त है, वहाँ व्यक्ति के लिए उससे बड़ा कोई भय और खतरा नहीं होता। जो भयभीत है, उसके लिए अभय का कोई दूसरा स्थान नहीं है।

आदमी धन में बहुत विश्वास करता है। वह सोचता है कि धन काम आएगा, पर पता नहीं वह उसके काम आएगा या औरों के काम आएगा। जो अभय देने वाला स्थान है, उससे वह घबराया हुआ रहता है और जो भय का स्थान है, उसे अभय का स्थान मान लेता है। यह विपर्यय भय का सबसे बड़ा कारण है।

अभय है आत्मस्थ

अभय को छोड़कर महावीर की व्याख्या नहीं की जा सकती। महावीर को छोड़कर अभय की व्याख्या नहीं की जा सकती। अभय का दूसरा कारण बनता है, आत्मस्थ हो जाना। जहाँ बुद्धि का विकास बढ़ता है, वहाँ आदमी झूठे भयों से मुक्त होता चला जाता है। माताएँ बच्चों को अपने स्वार्थ के लिए हौवा का डर बहुत दिखाती हैं, परिणामतः बच्चे कमजोर और डरपोक बन जाते हैं। यदि किसी पचास वर्ष के आदमी से कहा जाए कि भीतर मत जाना, हौवा बैठा है, तो वह बिल्कुल नहीं डरेगा, क्योंकि उसमें बुद्धि का विकास हो गया है। जो आत्मस्थ हो जाता है, संतुलित बन जाता है, वह भी कभी नहीं डरता। असंतुलन भय पैदा करता है। क्रोध आया, भय पैदा हो जाएगा, झूठ बोला, भय पैदा हो जाएगा। भय परिणाम है। माया और भय का संबंध है। आज अनेक व्यक्तियों को छोटी अवस्था में हार्टफेल हो जाता है। इसके दो कारण हैं—लोभ और भय। भय से आदमी का हार्ट कमजोर होता चला जाएगा। जहाँ आत्मस्थता नहीं आती, वहाँ भय बना रहता है।

भयग्रस्त कौन ?

अभय के संदर्भ में कहा गया कि जो अतिमात्र भय है, पहले उसे क्षय करना सीखो। पहले यह बात न करो कि सीधे अभय के बिंदु पर पहुँच जाँ। भय का सर्वथा क्षय बड़ा कठिन है। कितना डरना चाहिए या कितना नहीं डरना

चाहिए, क्यों डरना चाहिए और क्यों नहीं डरना चाहिए, इन सूत्रों का विवेक करना हमारे लिए बहुत जरूरी है।

एक प्रश्न है, भयग्रस्त कौन? जो मूढ़ है, वह भयग्रस्त है। जो भयग्रस्त है, वह मूढ़ है। मूढ़ और मूर्ख एक नहीं हैं। मूढ़ वह होता है, जिसमें घनीभूत मूर्च्छा होती है और मूर्ख वह होता है, जिसमें समझ कम होती है। जो जड़ है, वह भय के स्थान को पकड़ ही नहीं पाता। जो मन से दुर्बल है, वह भी भयभीत रहता है। सारा संसार भय से आकुल होता है, जो न मूढ़ होता है और न जड़।

न डरें, न डराएँ

भगवान महावीर की साधना का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र 'अभय' है। वह तभी सिद्ध हो सकता है, जब हम यह संकल्प करें कि हम दूसरों को डराएँ नहीं, सताएँ नहीं, दूसरों को कष्ट नहीं देंगे, अपनी ओर से दूसरों का तिलमात्र भी अनिष्ट नहीं करेंगे। जैसे-जैसे यह चेतना जागती जाएगी, अभय की चेतना अपने आप विकसित होती चली जाएगी। एक ओर अभय की अनुप्रेक्षा करें, दूसरी ओर आरम्भ और परिग्रह का भाव पुष्ट बनता चला जाए, तो अभय की साधना विफल हो जाएगी। हम भय और लोभ की भावना को पुष्ट न होने दें, अभय हमारे जीवन में स्वतः घटित होगा।

प्रतिक्रिया से बचाव

लोग जानना चाहते हैं, मेरे जीवन के बारे में, मेरे विकास के बारे में। पूछते हैं कि आपने इतना अधिक कैसे लिखा? इतना विकास कैसे किया? मैं बताना चाहता हूँ कि मुझे एक सूत्र मिला और वह सूत्र मेरे जीवन में सहज व्याप्त हो गया। वह सूत्र है, 'प्रतिक्रिया से मुक्त रहना।'

हिंसा के दो रूप हैं—प्रतिक्रिया और प्रतिशोध। मारना भी हिंसा है, पर आदमी हमेशा किसी को मारने की मुद्रा में नहीं रहता, वह रोज किसी को मारता भी नहीं है। यदि वह रोज किसी को मारने लगे तो स्वयं पागल हो जाए। मारने की बात तो कभी-कभी जीवन में आती है। कोई आदमी अपराधी होता है, क्रूर होता है तो जीवन में किसी को मार डालता है। यह मारने वाली हिंसा हमारी दुनिया में कम चलती है। ज्यादा प्रतिक्रियात्मक हिंसा चलती है।

जीवन में प्रतिदिन पचासों बार प्रतिक्रिया करते हैं, पचासों बार हिंसा का जीवन जी लेते हैं। बहुत बार तो ऐसा भी होता है कि हमारी श्वास हिंसा की श्वास बन जाती है। जीवन में प्रतिक्रिया के बहुत प्रसंग आते हैं। मैंने बचपन से अपना एक सूत्र बनाया कि यदि मुझे अपने जीवन में सफल होना है, कुछ काम करना है तो इस प्रतिक्रिया के चक्कर में नहीं फँसना है। जो आदमी प्रतिक्रिया के चक्कर में फँस जाता है, उसकी सारी सृजनात्मक शक्तियाँ समाप्त हो जाती हैं, केवल ध्वंस और ध्वंस ही उसके सामने बचता है। वह कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। आखिर यह भी एक शक्ति का एक स्रोत है। ऊर्जा का प्रवाह है। उसे इधर मोड़ दें, चाहे उधर मोड़ दें। किधर भी मोड़ दें। शक्ति तो आखिर उतनी ही है, जितनी है। उसे किस दिशा में लगाना चाहते हैं, इसका चुनाव और निर्माण तो आपको ही करना है। शक्ति को ध्वंस में भी लगाया जा सकता है और सृजनात्मक कार्यों में भी लगाया जा सकता है। शक्ति को रचनात्मक बनाना है या ध्वंसात्मक बनाना है, यह चुनाव हर व्यक्ति को करना होता है।

मैंने चुनाव किया और मुझे प्रसन्नता है कि मैं प्रतिक्रिया से अधिक से अधिक बचा हूँ, इसका मुझे संतोष है। मुझे याद नहीं कि किसी के प्रति शत्रुता का भाव किया हो। मुझे मालूम हो जाता है कि अमुक आदमी मेरे बारे में अनिष्ट सोच रहा है, पर मैंने हमेशा यह सोचा कि वह सोच रहा है, उसकी शक्ति नष्ट हो रही है। एक आदमी को वमन हो रही है तो क्या जरूरी है कि दूसरा भी वमन करे? अगर होता है, तो बड़ी दुर्बलता है। जिसका मनोबल दृढ़ है, वह ऐसा नहीं करता।

हिंसा एक विकट समस्या है। हमारे जीवन में हिंसा के बहुत प्रसंग आते हैं। प्रसंग आने पर हिंसा में न जाएँ, प्रतिक्रिया के प्रसंग आने पर प्रतिक्रिया में न जाएँ, अहिंसा और क्रिया का जीवन जी सकें तो हमारी सबसे बड़ी उपलब्धि होती है।

क्रियात्मक जीवन जीना अपने स्वतंत्र दायित्व का अनुभव करना है, स्वतंत्र कर्तृत्व का अनुभव करना है। जो व्यक्ति क्रियात्मक जीवन जीता है, वह कोई भी काम करता है, कर्तृत्व के आधार पर करता है, दायित्व के आधार पर करता है, किन्तु दूसरे के हाथ का खिलौना बनकर नहीं करता। प्रतिक्रिया

करने वाले तो दूसरे के हाथ का खिलौना है। जो प्रतिक्रिया का जीवन जीता है, वह कठपुतली है, खिलौना है।

कहानी तो बच्चों की है, पर है बड़ी मार्मिक। बाप और बेटे दोनों घोड़े पर चढ़कर जा रहे थे। लोग मिले, बोले, 'देखो, मरियल घोड़ा और ऊपर बैठे हैं दो आदमी।' तत्काल पिता के मन में प्रतिक्रिया हुई, वह नीचे उतर गया। अपना कोई चिंतन नहीं था। जब चढ़ा, तब चिंतन के साथ ही चढ़ना था। अब लोगों ने कहा, वह नीचे उतर गया। बाप-बेटा थोड़ा आगे गए। दूसरे लोग मिले, बोले, 'देखो, कैसा जमाना आया है, लड़का जवान है, ऊपर बैठा जा रहा है। बाप बेचारा जूते घिसते-घिसते चल रहा है।' काफी व्यंग्य कसा तो लड़का नीचे उतर गया और बाप ऊपर चढ़ गया। थोड़ा आगे चले। लोग मिले, बोले, 'देखो, बड़ी विचित्र बात है कि बाप तो ऊपर बैठा है और बेचारा छोकरा नीचे चल रहा है।' यह सुनकर बाप भी नीचे उतर गया। दोनों उतर गए, दोनों घोड़े की लगाम थामे पैदल चलने लगे। थोड़ा आगे चले, आदमी मिले, बोले, 'देखो, कितने मूर्ख हैं!' घोड़ा तो खाली चल रहा है, ये पैदल चले आ रहे हैं।'

अब क्या करें? प्रतिक्रिया का जीवन जीने वाला कहाँ जाए? जाने का रास्ता नहीं बचता। सारे रास्ते बंद हो जाते हैं। इतना विचित्र चिंतन और विचित्र बातें आती हैं कि मन कहीं टिक नहीं पाता।

एक व्यक्ति नया-नया ही संन्यासी बना था। उसी गाँव का था। तालाब के किनारे डेरा जमाए बैठा था। एक दिन सो रहा था। सिरहाने ईंट रखी हुई थी। महिलाएँ पानी लाने तालाब पर जा रही थीं। एक महिला बोली, 'देखो, संन्यासी बन गया तो क्या हुआ। अभी सिरहाने का मोह नहीं छूटा और कुछ नहीं तो ईंट को ही सिरहाना दे रखा है।' संन्यासी ने सुना और सोचा कि मैंने ठीक नहीं किया। उसने ईंट निकाल दी और बिना सिरहाने दिए ही सो गया। बहिनें पानी लेकर वापस

आई, देखा और फिर बोलीं, 'देखो, कितना कमजोर है यह संन्यासी! हमने कहा और ईंट निकाल दी।' संन्यासी ने सुना और ईंट फिर लगा ली। वही बहिन दुबारा पानी लेने आई और बोली, 'अच्छे संन्यासी बने तुम! हमारे कहने से ईंट निकालोगे और कहने से ही ईंट लगाओगे, तो फिर संन्यासी बनोगे ही नहीं। संन्यासी बनना है तो हम कहते रहेंगे, तुम्हें जो करना है, वह करते रहो। हम कहते हैं उसकी प्रतिक्रिया से तुम चलोगे तो संन्यासी नहीं बन पाओगे।'

इस दुनिया में जीना और प्रतिक्रिया के साथ जीना, यह सबसे बड़ी समस्या है। अहिंसा की सबसे बड़ी फलश्रुति है कि कौन क्या कहता है, इससे निरपेक्ष होकर अपने धर्म के आधार पर चलो, अपने धर्म के आधार पर करो। जब तक हमारी प्रतिक्रियात्मक वृत्ति की सफाई नहीं होती, धुलाई नहीं होती तो कौन अहिंसक बन सकता है? अहिंसा की बहुत बड़ी बातें लोग करते हैं, पर केवल स्थूल बात पर ही अटक जाते हैं। बस इतना कि पैर के नीचे चींटी मर जाती है तो हिंसा हो गई और भारी से भारी प्रतिक्रिया हो जाती है तो लगता ही नहीं कि हिंसा हुई है।

आज की अनुशासनहीनता का कारण क्या है? सबसे बड़ा कारण है प्रतिक्रिया। दूसरे की बात सुनना, दूसरे की बात मानना, यह तथ्य हमारे जीवन से निकलता जा रहा है। लोग सोचते हैं कि अपनी जो धारणा है, उससे ही काम करना है, दूसरा कहने वाला है ही कौन? सीख मानना, शिक्षा स्वीकार करना, यह हमारी आदत में जैसे रहा ही नहीं। आज की नई पीढ़ी में असहिष्णुता, दूसरे की बात स्वीकार न करना, अनुशासन को न मानना जैसी बातें फैल रही हैं। यह भी हिंसा है। यह उग्र होती जा रही है। इसमें दोनों ही कारण बनते हैं, कहने वाले कहना नहीं जानते और मानने वाले मानना नहीं जानते।

अनुशासन जीवन में बहुत आवश्यक है। सामाजिक जीवन हो और अनुशासन न हो, तो वह जीवन मात्र हड्डियों का ढाँचा ही तो है। अस्थियों का एक कंकाल मात्र है। हर मनुष्य का शरीर, हर प्राणी का शरीर एक कंकाल है। पर यह चलता है। किस आधार पर चलता है? इसमें प्राण की शक्ति काम

करती है। प्राण के द्वारा यह शरीर चल रहा है। यदि प्राण की शक्ति न हो तो यह ढाँचा मात्र रह जाता है, चल नहीं सकता। अनुशासन हमारे जीवन की प्राण-शक्ति है। प्राण है पर अहिंसा का विकास हुए बिना अनुशासन का विकास नहीं हो सकता। जितनी हिंसा, उतनी अनुशासनहीनता। जितनी अहिंसा, उतना अनुशासन। अहिंसा का एक रूप होता है, क्रियात्मक जीवन, प्रतिक्रिया से मुक्ति।

पंचतंत्र की एक कहानी है। बंदर और बया थे। बया का घोंसला एक पेड़ पर था और उसी पेड़ पर बंदर बैठा था। वर्षा का मौसम था। तेज वर्षा हो रही थी। बंदर काँप रहा था। बया अपने घोंसले में बैठी थी। गहरी वर्षा होने लगी। बंदर को ठिठुरते देखा तो बया बोली, 'अरे बंदर! तुम तो आदमी जैसे हो। तुम्हारे हाथ हैं, पैर हैं। तुम सब कुछ कर सकते हो। एक घर क्यों नहीं बना लेते?' इतना सुनते ही बंदर गुस्से से भर गया। वह झपटा और बया के घोंसले को तोड़कर नीचे गिराते हुए बोला, 'असमर्थों गृहारम्भे, समर्थों गृह-भंजने। अरे! तू उपदेश देती है? कौन है तू उपदेश देनेवाली? मेरे सब कुछ हैं, हाथ हैं, पैर हैं, मैं अपना घर बनाने में तो समर्थ नहीं हूँ, पर दूसरे का घर तोड़ने में समर्थ अवश्य हूँ।'

यह एक प्रतिक्रिया का जीवन है। बया ने अच्छी बात कही थी, कोई बुरी बात नहीं कही थी। उसने कोई बुरा शब्द भी नहीं कहा था। पर आदमी (बंदर) का अहं इतना है, वह सोचता है कि मुझे कहने वाला कौन? हर आदमी खुद को सर्वोपरि मान बैठा है। माने या न माने, करे या न करे, पर भीतर में इतना प्रबल अहंकार है कि वह सोचता है, मुझे कहने वाला कौन है? क्या मैं नहीं समझता? क्या मैं नहीं जानता? मैं मूर्ख हूँ? यह ज्यादा समझदार मुझे उपदेश दे रहा है? इतना क्रूर और इतना डरावना यह अहं का नाग, हमारे भीतर बैठा है। वह जहरीला है। जब कभी कोई सामने आता है तो वह डंक मारने को तैयार रहता है।

अहंकार हमारे भीतर है, तब अहिंसा का विकास कैसे होगा? प्रतिक्रिया

से मुक्त हम कैसे हो सकेंगे ? केवल साधु-संन्यासी के जीवन की बात नहीं कर रहा हूँ, मैं सामाजिक जीवन के संदर्भ में कुछ चर्चा कर रहा हूँ। सामाजिक जीवन में भी एक सीमा तक अहंकार को कम करना जरूरी होता है। जो संन्यासी बन गया, उसके लिए तो अहंकार को कम करना बहुत जरूरी है, किन्तु जो संन्यासी नहीं बना और सामाजिक जीवन जी रहा है, उसके लिए भी आवश्यक है कि अहंकार को कम करता चले।

प्रतिक्रिया के हेतु

महारानी विक्टोरिया आई। दरवाजा खटखटाया। भीतर बैठा था प्रिंस अलबर्ट। पूछा, 'कौन है?' जवाब आया, 'महारानी विक्टोरिया।' दरवाजा नहीं खुला। फिर खटखटाया और फिर पूछा, 'कौन है?' उसने फिर जवाब दिया, 'आपकी प्रिय पत्नी विक्टोरिया।' तत्काल दरवाजा खुल गया। महारानी के लिए दरवाजा नहीं खुल सकता और प्रिया के लिए दरवाजा खुल सकता है।

जब अहंकार बैठा है तो सामने वाला व्यक्ति भी तन जाता है। एक का अहंकार दूसरे में भी अहंकार पैदा कर देता है। एक की विनम्रता दूसरे को भी विनम्र बना देती है। प्रतिक्रिया का बहुत बड़ा कारण बनता है, 'अहंकार'। एक पक्ष का अहंकार भी प्रतिक्रिया का कारण बनता है और यदि अहंकार दोनों पक्षों में हो जाए तो भयानक स्थिति बन जाती है।

प्रतिक्रिया का दूसरा हेतु बनता है—गलती बताना। कोई आदमी किसी को बताए कि तुमने यह गलती की, यह तो बड़ी भयंकर बात है। न बताए तब तो ठीक है, बताने पर सौ में निन्यानवे व्यक्ति ऐसे होंगे कि एकदम आवेश में आ जाएँगे। बड़ी कठिन समस्या है दूसरे की गलती बताना। दूसरे के दोष बताने का मतलब है, शत्रुता मोल लेना। यह विचार गृहस्थों में ही नहीं, साधना करने वाले व्यक्तियों के मन में भी आता है। मैं किसी की कोई गलती पकड़ूँ, इसका मतलब है शत्रुता मोल ले लूँ? क्योंकि गलती बताने पर उसे स्वीकार करे और यह कहे कि तुमने बहुत अच्छा काम किया, मुझे चेताया, मुझे सावधान किया, बहुत अच्छा किया, मैं और सावधान रहूँगा। ऐसी बात

तो सुनने को मिलती नहीं और गलती बताते ही बताने वाले पर बरस पड़ता है कि कल का छोकरा और मुझे गलती बता रहा है? तुझे पता है, तूने जितना आटा खाया है, उतना मैं नमक खा चुका हूँ। मेरी क्या गलती बताएगा? मुझे क्या चेताएगा? इतनी भयंकर प्रतिक्रिया जागती है कि प्रतिक्रिया प्रतिशोध में बदल जाती है। प्रतिशोध भी भयंकर होता है। मैंने देखा है, अनुभव किया है। एक व्यक्ति ने किसी को बता दिया कि तुम यह गलती कर रहे हो, उसने गाँठ बाँध ली। अब वह प्रतिवाद में दिन में पचास बार कहता, तुम यह गलती कर रहे हो। उसने सोचा, किस भूत से वास्ता हो गया, पिंड छुड़ाना मुश्किल है। मैंने तो सहज भाव से बताया कि भाई, यह तुम्हारी गलती है। इसके मन में तो प्रतिशोध की भावना जाग गई। अब यह मेरे पीछे पड़ गया है? उठूँ तो गलती कर रहे हो, बैठूँ तो गलती कर रहे हो, चलूँ तो गलती कर रहे हो, बात-बात में कह रहा है कि गलती-गलती-गलती। ऐसा लगता है, मानो गलती बताना इसका सबसे प्रिय कार्य बन गया है। यह प्रतिक्रिया का एक मंत्र बन गया है। यह प्रतिक्रिया का एक प्रसंग है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया जागती है। मैंने अनुभव किया है कि अहिंसा का विकास हुए बिना इस प्रतिक्रिया से आदमी बच नहीं सकता।

सापेक्ष दृष्टिकोण

एक भाई ने पूछा, पूर्ण कौन है? मैंने उत्तर दिया, मैं हूँ। फिर उसने पूछा, अपूर्ण कौन है? मैंने कहा, वह भी मैं हूँ। वह बड़ा असमंजस में पड़ गया। उसने कहा कि दोनों कैसे? पूर्ण हैं तो अपूर्ण कैसे और अपूर्ण हैं तो पूर्ण कैसे? मुझे फिर उत्तर देना पड़ा। मैंने कहा, मैं भाषा के जगत में जीता हूँ, इसलिए दोनों हूँ। मैं चिंतन के जगत में जीता हूँ, इसलिए दोनों हूँ। मैं स्मृति, कल्पना और बुद्धि के जगत में जीता हूँ, इसलिए दोनों हूँ।

भाषा के जगत में जीवित कोई भी व्यक्ति केवल पूर्ण नहीं हो सकता और केवल अपूर्ण भी नहीं हो सकता। भाषा जगत से परे पूर्ण और अपूर्ण की कोई कल्पना भी नहीं है। यह हमारी भाषा की सापेक्षता है। हमने चिंतन और भाषा के योग से बहुत सारी ऐसी कल्पनाएँ कर ली जो भाषा को पार कर अभाषा के जगत में जाने पर और शब्दों की सीमा को लांघकर अशब्द की सीमा में जाने पर खंडित हो जाती हैं। वहाँ केवल अस्तित्व बचता है। जो

होता है, वही बचता है, शेष सारी कल्पनाएँ समाप्त हो जाती हैं। यदि यह एक सत्य समझ में आ जाए तो बहुत सारे दार्शनिक विवाद भी समाप्त हो जाएँ। दार्शनिक उलझनें, दार्शनिक विवाद, ये सारे भाषा के जगत में चलते हैं। सत्य भाषा से परे हैं। सत्य और भाषा का कभी योग नहीं हो सकता। अनेकांत दृष्टि में इस पर बहुत विस्तृत प्रकाश डाला गया है। हम जिसे सत्य मानते हैं, वह अनेकांत की दृष्टि से सापेक्ष सत्य ही होगा। जो प्रश्न होता है कि क्या हमें सत्य को सत्य कहने का अधिकार नहीं है? हम जो भी कहें, क्या वह असत्य होगा? वह सत्य हो सकता है, यदि तुम अपनी दुर्बलता को स्वीकार कर लो। यदि तुम अपनी असमर्थता या भाषा दुर्बलता स्वीकार कर लो, तो वह सत्य हो सकता है। भाषा की अक्षमता यह है कि वह एक क्षण में, एक शब्द के द्वारा, किसी एक सत्य का ही प्रतिपादन कर सकती है, जबकि सत्य अनंत होता है। वह एक शब्द के द्वारा कभी गृहीत नहीं होता।

भाषा की दुर्बलता

प्रत्येक तत्त्व में अनंत धर्म होते हैं। एक परमाणु में भी अनंत धर्म होते हैं और वे भी विरोधी। अनंत धर्मों का एक साथ प्रतिपादन करना किसी के सामर्थ्य की बात नहीं है। शब्द के द्वारा एक क्षण में केवल एक पर्याय का, एक धर्म का ही प्रतिपादन किया जा सकता है। शेष अनंत रह जाता है। यदि हम एक ही पर्याय को सत्य मान लेते हैं, तो शेष बचा अनंत पर्याय झुठला दिया जाता है। अनंत सत्य खंडित हो जाता है और सत्य का केवल एक अंश स्वीकृत होता है। इसे ही यदि पूर्ण सत्य मान लिया जाए, तो वहाँ भ्रांति होती है।

भाषा की यह सहज दुर्बलता है, जिसे मिटाया नहीं जा सकता। आदमी सोचता है कि एक क्षण में एक सत्य कहा जा सकता है, जीवन बहुत बड़ा है, इसलिए सारे जीवन में तो सम्पूर्ण सत्य कह ही दिया जाएगा। यह भ्रांति है। न ऐसा हुआ है और न ऐसा होगा। इस संसार में जन्मे किसी भी व्यक्ति ने आज तक सम्पूर्ण सत्य का न कभी प्रतिपादन किया है और न कभी कर पाएगा। संभावना भी नहीं है। जीवन के क्षण ही कितने होते हैं? आयु की अवधि कितनी होती है? बहुत थोड़े क्षण हैं और अवधि बहुत छोटी है। विराट सत्य के सामने, अनंत धर्म वाले सत्य के सामने किसी प्राणी की आयु की सीमा तिनके पर स्थित छोटी बूंद जितनी भी नहीं है। इतनी अल्प आयु और इतना

विराट सत्य! आयुष्य उस सत्य की तलहटी को भी नहीं छू पाता।

स्यात् शब्द की सार्थकता

केवली, भगवान या सर्वज्ञ अनंत सत्य को जान लेते हैं, किन्तु उनमें भी यह क्षमता नहीं है कि वे अनंत सत्य को कह सकें। यह असंभव है। कोई महान व्यक्ति, ज्ञानी व्यक्ति, दस-बीस या पचास पर्यायों की अभिव्यक्ति कर सकता है। पूरे सत्य को वह कभी नहीं कह सकता। उसके द्वारा प्रतिपादित सत्य के कुछेक पर्यायों को पूर्ण सत्य मानकर अवशिष्ट पर्यायों को हम अस्वीकार कर देते हैं, नकार देते हैं, तब सत्य से हटकर असत्य की ओर चले जाते हैं। इसलिए अनेकांत ने एक युक्ति प्रस्तुत की। उसने कहा, 'तुम असत्य से बच सकते हो, यदि 'स्यात्' शब्द का सहारा लेकर चलते रहो। जो कुछ कहा, उसके साथ स्यात् शब्द लगा लो। यह तुम्हें असत्य से बचा लेगा।' स्यात् का यहाँ भावार्थ होगा—'मैं पूर्ण सत्य कहने में असमर्थ हूँ। सत्य का एक पर्याय मात्र प्रस्तुत कर रहा हूँ।'

प्राचीन साहित्य में 'स्यात्' शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। मैं उसे नए अर्थ में प्रस्तुत करना चाहता हूँ। 'स्यात्' शब्द का अर्थ है अपनी अक्षमता का स्वीकार, भाषा की अक्षमता की स्वीकृति। 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करने वाला व्यक्ति यह स्वीकृति पहले ही देता है कि मैं जो कह रहा हूँ, उसे पूर्ण सत्य मत मान लेना, उसे निरपेक्ष सत्य मत मान लेना, अखंड सत्य मत मान लेना। मैं केवल सत्य के एक पर्याय का, एक अंश का ही प्रतिपादन कर रहा हूँ। तुम्हें केवल एक अंश से परिचित करा रहा हूँ। साथ ही साथ मैं पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति में अपनी असमर्थता भी प्रकट करता हूँ। मैं पूरा सत्य नहीं कह सकता। तुम्हें सत्य के निकट ले जा रहा हूँ। यह है 'स्यात्' शब्द की सार्थकता।

एक विद्यार्थी घर आकर माँ से बोला, 'माँ! आज मुझे पुरस्कार मिला है। प्रतियोगिता थी। प्रश्न पूछा गया था। मैंने उत्तर दिया।' माँ ने कहा, 'तुम्हारा उत्तर सही था, इसीलिए पुरस्कार मिला।' उसने कहा, 'मेरा उत्तर पूरा सही नहीं था, किन्तु सत्य के निकट अवश्य था, इसीलिए पुरस्कार मिला।'

मेरे साथियों के उत्तर गलत थे।' माँ पूछा, 'क्या प्रश्न पूछा गया था?' उसने कहा, 'प्रश्न यह था कि गाय के कितने पैर होते हैं? मेरे सब साथियों ने उत्तर दिया कि गाय के दो पैर होते हैं और मैंने बताया कि गाय के तीन पैर होते हैं। मेरा उत्तर सत्य के अधिक निकट था, इसलिए मुझे पुरस्कार दिया गया।'

'स्यात्' शब्द सत्य के निकट ले जाता है, सत्य के साथ जोड़ देता है। उसके द्वारा भी पूरे सत्य की उपलब्धि नहीं होती। पूरा सत्य भाषा के माध्यम से उपलब्ध होता ही नहीं। 'स्यात्' शब्द सत्य के परिसर में ले जाता है, इसलिए हम पुरस्कृत भी हो जाते हैं। सत्य को साक्षात् करने की इससे सुंदर युक्ति अन्यत्र नहीं मिलती।

राजा की सभा में एक पंडित था। वह बहुत विद्वान, तार्किक और अपनी बात पर अड़ने वाला था। कोई भी आता और कहता कि यह बात सच है, तो पंडितजी तत्काल उसका खंडन कर देते। एक बार राजा ने कहा, 'पंडित, तुम बड़े नटखट हो। सबका खंडन कर देते हो। अच्छा, मेरा तो यही विचार है। बोलो, यह तुम्हें कैसा लगा?' पंडित ने कहा, 'यह बिल्कुल गलत बात है, क्योंकि यह आपका विचार है, मेरा नहीं। जो मेरा विचार नहीं, वह कभी सच नहीं हो सकता, अवश्य गलत ही होगा।'

आज लोग ऐसा ही मानने लगे हैं। लोगों ने सीमा बनाकर घोषणा कर दी है कि मेरे विचार में आओ, तुम्हारा कल्याण होगा, स्वर्ग मिलेगा। अन्यथा भयंकर नरक में जाओगे। दुनिया बड़ी है। मैं कुछ सोचता हूँ, बोलता हूँ, तो दूसरा कहने से नहीं हिचकता कि यह सब मेरी नकल है। इसमें नया विचार जैसा कुछ भी नहीं है। क्या सत्य का ठेका किसी एक व्यक्ति ने ही ले रखा है? व्यक्ति में इतना प्रबल अहंकार हो जाता है कि सत्य उसके नीचे दब जाता है और व्यक्ति के विचार ऊपर रहते हैं। विचार के बंधन से, चिंतन की कारा से तथा स्मृति, कल्पना और बुद्धि की सीमा से परे जाने का एक मात्र उपाय है

स्यात् शब्द का सहारा। स्यात् शब्द अपेक्षा की ओर इंगित करता है। वह कहता है कि जो कुछ कहा गया है, कहा जा रहा है उसे अपेक्षा से समझो। अपेक्षा से समझे बिना अर्थ का अनर्थ हो सकता है। आग्रह मत करो। कथन के संदर्भ को समझो। शब्द की पकड़ खतरा पैदा कर देती है। वह सत्य से दूर ले जाती है। मैं बहुत बार सोचता हूँ कि कहीं साधक मेरे शब्द को ही न पकड़ लें। मैं बार-बार कहता हूँ कि श्वास को देखना आत्मा को देखना है। कोई इस वाक्यांश के संदर्भ को समझें बिना पकड़ न ले। अन्यथा बड़ा अनर्थ घटित हो सकता है। दस प्राणों में एक प्राण श्वास है। प्राण आत्मा क्यों नहीं है? जो प्राण है, वह आत्मा है, आत्मा से जुड़ा हुआ है। यदि अपेक्षा को न समझा जाए तो बहुत अनर्थ हो जाता है। या तो हम इस बात को अस्वीकार कर दें कि श्वास को देखना आत्मा को देखना नहीं है या फिर श्वास को देखना छोड़ दें। श्वास को नहीं देखने का अर्थ है साधना के प्रथम द्वार में प्रवेश किए बिना ही घर लौट आना। आगे के द्वार बंद ही पड़े रह जाते हैं। आगे का विकास असंभव हो जाता है और यदि हम श्वास को ही पूर्ण आत्मा मानकर अटक जाते हैं, तो आगे एक कदम भी नहीं रख पाते। वहीं गतिरोध हो जाता है।

प्रवृत्ति और परिणाम

हमारा जीवन अस्तित्व और आकांक्षा, दोनों के बीच में चल रहा है। हम हैं, हमारा अस्तित्व है। हम होना चाहते हैं, यह होने की आकांक्षा है। आदमी में बदलने की, कुछ होने की, एक आकांक्षा होती है, चाह होती है। कोई भी आदमी जिस स्थिति में है, उसमें शायद संतुष्ट नहीं होता, कुछ और होना चाहता है। जहाँ है, वहाँ से कुछ और आगे जाना चाहता है। जिस बिंदु पर है, वहाँ टिका रहे, ऐसा शायद ही कोई आदमी है। कुछ होने की चाह से अनेक संभावनाएँ जन्म लेती हैं। होना है तो आयाम खोजने होंगे। उपाय खोजने होंगे, एक वातावरण की सृष्टि करनी होगी। आदमी सत्य को प्राप्त करना चाहता है, सफल होना चाहता है, स्वस्थ होना चाहता है, विकास करना चाहता है।

मनुष्य की एक मनोवृत्ति है, जो अत्यंत भयंकर है। इस मनोवृत्ति ने

अनेक समस्याओं को जन्म दिया है, पर समाधान नहीं मिल रहा है। वह मनोवृत्ति है—परिणामगामी। हम परिणाम चाहते हैं, परिणाम को मिटाना चाहते हैं और परिणाम को बदलना चाहते हैं। तीनों बातें परिणाम के आधार पर ही करना चाहते हैं। मिटाना है तो परिणाम को और पाना है तो परिणाम को। परिणाम पर ही हमारा सारा ध्यान जाता है। प्रवृत्ति और वृत्ति पर हमारा ध्यान नहीं जाता।

एक अधिकारी नया-नया आया। आलू की फसल बहुत अच्छी थी। जाकर देखा तो पत्ते ही पत्ते दिखाई दे रहे थे। केवल पत्ते और कुछ नहीं। उसने कहा कि लोगों ने गलत सूचना दी। बताया गया कि आलू की फसल बहुत अच्छी है, लेकिन यहाँ तो पत्तों के अलावा कुछ है ही नहीं। केवल पत्ते हैं और कुछ नहीं। आखिर आलू कहाँ गए? लोग मन ही मन में हँसे और बोले, 'महाशय! आलू जमीन में होते हैं। आलू चाहिए तो जमीन खोदकर देखो।' जब जमीन को खोदकर देखा गया, तो आलू ही आलू निकले।

पत्तों के आधार पर आलुओं का निर्णय नहीं किया जा सकता। जो भीतर होता है, उसे बाहर नहीं पाया जा सकता। हमारी मनोवृत्ति ऐसी है कि हम ऊपर की बात पर अधिक विश्वास करते हैं, भीतर जाने का प्रयत्न ही नहीं करते।

वृत्ति एवं प्रवृत्ति

भीतर गए बिना कुछ नहीं मिलता। परिणाम सदा भीतर ही रहता है। परिणाम के नीचे दो बातें रहती हैं, एक प्रवृत्ति और वृत्ति के नीचे रहती है वृत्ति। वृत्ति को पकड़ें, तो परिणाम की बात समझ में आ सकती। केवल परिणाम के आधार पर होने वाले सारे निर्णय गलत होते हैं, मिथ्या होते हैं और भ्रामक होते हैं। हम क्रोध को मिटाना चाहते हैं, बुराई को मिटाना चाहते हैं, अज्ञान को मिटाना चाहते हैं, अनुशासनहीनता को मिटाना चाहते हैं, आक्रामक मनोवृत्ति को मिटाना चाहते हैं, संग्रह की मनोवृत्ति और इसी प्रकार की सारी बुराइयों को मिटाना चाहते हैं। हम ही नहीं, सारा समाज और सरकार इन्हें

मिटाना चाहती है। सब लोग मिटाना चाहते हैं, पर बुराइयों में क्या जादू है, कितनी ताकत है, कितनी शक्ति है कि वे और अधिक पनपती जाती हैं, उनकी पौध बढ़ रही है। न जाने उन्हें कहाँ से सिंचाई मिल रही है! वे खुशहाल हो रही हैं। आदमी शायद कभी-कभी बर्बाद हो जाता है, लेकिन बुराइयाँ तो आबाद हो रही हैं। आखिर बुराइयों को किसका संरक्षण प्राप्त है? आदमी किसके संरक्षण से वंचित है? यह हमारे सामने बहुत बड़ा प्रश्न है। मुझे प्रतीत होता है कि इस प्रश्न पर हमने कभी गंभीरता से चिंतन नहीं किया। यदि हमारा चिंतन गंभीर होता तो हम ठीक मूल की बात तक पहुँच पाते और समाधान खोज पाते। पर हम तो केवल बुराइयों को मिटाना चाहते हैं। हिंसा एक परिणाम है। क्रोध एक परिणाम है। बुराई एक परिणाम है। कोई आदमी मिलावट करता है, जमाखोरी करता है, संग्रह करता है, ये सब परिणाम हैं। अनुशासनहीनता एक परिणाम है। हम परिणाम को मिटाना चाहते हैं, मूल बात को मिटाना नहीं चाहते। मूल जब तक विद्यमान है, तब तक ये परिणाम तो आते ही रहेंगे। मूल जब मजबूत है, ये परिणाम फलते-फूलते रहेंगे। क्रोध अपने आप नहीं आता। क्रोध के नीचे एक प्रवृत्ति होती है और उसके नीचे एक वृत्ति होती है। जब तक वृत्ति को मिटाने की बात हम नहीं सोचते, तब तक प्रवृत्ति को भी नहीं मिटाया जा सकता और परिणाम को भी नहीं मिटाया जा सकता।

मनोवैज्ञानिकों ने वृत्तियों का विश्लेषण किया है। मनुष्यों में कुछ मौलिक वृत्तियाँ होती हैं और उन वृत्तियों के आधार पर उनकी सारी प्रवृत्तियाँ चलती हैं। धर्मशास्त्रों ने वृत्तियों और प्रवृत्तियों का बहुत गहरा विश्लेषण किया। उन्होंने कभी नहीं कहा कि प्रवृत्तियों को मिटाओ। मैं अनेक बार, विशेषतः उन लोगों से एक प्रश्न करता हूँ, जो दीक्षित होना चाहते हैं, घर से विरक्त होकर संन्यास लेना चाहते हैं, श्रमण बनना चाहते हैं, कि क्या अहिंसा को साधा जा सकता है? क्या ब्रह्मचर्य को साधा जा सकता है? क्या अपरिग्रह को साधा जा सकता है? लोग कहते हैं कि ये सब साधे जा सकते हैं। हमने संकल्प कर लिया है कि हिंसा नहीं करेंगे, झूठ नहीं बोलेंगे, चोरी नहीं करेंगे, अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करेंगे, परिग्रह नहीं रखेंगे।

मन का मंथन

प्रश्न है—संकल्प ले लिया, पर यह सिद्ध हो गया क्या? यदि संकल्प लेने मात्र से सारी बातें सिद्ध होतीं, तो दुनिया में सबसे बड़ा शब्द का चमत्कार होता कि जो भी कहा सिद्ध हो गया। हर कोई आदमी कहेगा कि मैं गरीबी नहीं चाहता। गरीबी को मिटा दूँगा, यह बात सिद्ध हो जाती। यह जो बुराई है, इसे मिटा दूँगा। एक जादू की छड़ी जैसी बात हो जाती। पर केवल शब्द के उच्चारण से कोई काम सधता नहीं। हमारे पास कोई ऐसा चिंतामणि रत्न नहीं है कि जो भी मुँह से कहा, वह सामने पेश हो गया। चिंतामणि, कल्पवृक्ष और कामधेनु कहाँ हैं? जो मन में कल्पना की, जो कामना की, चिंता की और वह सिद्ध हो गया। आज तो ऐसा कुछ भी नहीं है। मात्र संकल्प के स्वीकार से, एक शब्द के उच्चारण से ये बातें कैसे बन सकती हैं? इस पर गंभीर चिंतन हुआ। तीर्थंकरों ने, आचार्यों ने एक मार्ग बताया कि गुप्ति की साधना करो, व्रत सिद्ध होगा। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायागुप्ति, इन गुप्तियों की साधना से व्रत सिद्ध होगा। मन स्थिर है तो अहिंसा सिद्ध हो जाएगी। मन निर्मल है, स्थिर है तो ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाएगा। मन स्थिर है, निर्मल है तो अपरिग्रह सध जाएगा। पर जब तक मन चंचल है, मन बंदर बना हुआ भटक रहा है, दौड़ लगा रहा है, पदार्थ के पीछे दौड़ रहा है, व्यक्ति के पीछे दौड़ रहा है, घटनाओं के पीछे दौड़ रहा है, उतनी ही चंचलता, उतना ही विक्षेप और उतना ही आसक्तभाव, सब कुछ चल रहा है, तो क्या अहिंसा सध जाएगी? ब्रह्मचर्य सध जाएगा? साधु बनने मात्र से सब कुछ सध जाएगा? अगर ऐसा सुगम उपाय मिले तो मैं चाहूँगा कि सारी दुनिया को ही साधु बना लिया जाए। किसी को असंन्यासी रहने की आवश्यकता ही नहीं है। एक शब्द का उच्चारण किया और बात बन गई। जो साधक इसी तरह अपनी साधना में आगे बढ़ता है, उसे पीछे अवश्य लौटना होता है।

एक चूहा था। उसे बिल्ली से बहुत डर लगता था। एक बार एक ऋषि ने उसे वरदान दिया और वह तुरंत बिल्ली बन गया। अब बिल्ली का भय मिटा, लेकिन कुत्ते का भय सताने लगा। ऋषि ने उसे कुत्ता बना दिया। इसी तरह कुछ दिन बीते। ऋषि ने पूछा, 'अभय हो गए?' वह बोला, 'अभय

कैसे? अब शेर से डर लगता है।' ऋषि ने उसे शेर बना दिया। अब भी भय नहीं मिटा। उसने एक दिन ऋषि से कहा, 'अब मुझे किसी भी पशु से भय नहीं लगता, केवल शिकारी से डर लगता है।' ऋषि ने पूछा, 'अब क्या बनना चाहते हो? क्या मनुष्य बना दूँ?' उसने कहा, 'नहीं, मैंने स्पष्ट अनुभव कर लिया है कि सभी अवस्थाओं में डर बना रहता है। चाहे बिल्ली, कुत्ता, शेर या शिकारी बन जाओ, डर कभी मिटेगा नहीं। मुझे तो फिर से चूहा ही बना दो।' ऋषि ने कहा, 'तथास्तु, पुनर्मूषको भव।' वह चूहा बन गया।

डर मिटेगा नहीं, चाहे कुछ भी बन जाओ। वृत्ति बदले बिना आदमी कुछ भी बन जाए, कोई परिवर्तन नहीं होता। मूल बात है, भय की वृत्ति बदलने पर ही भय मिटता है।

गुप्ति की साधना

वृत्ति की प्रधानता हमें स्वीकार करनी होगी। वृत्ति बदलती है, गुप्ति की साधना से। गुप्तियाँ तीन हैं—मन की गुप्ति, वचन की गुप्ति और काया की गुप्ति। हिंसा हमारी वृत्ति का ही एक परिणाम है। जब तक मनुष्य में प्रियता और अप्रियता का संवेदन तीव्र है, तब तक वह अहिंसक कैसे बन सकता है? जब तक मनुष्य में प्रियता और अप्रियता का संवेदन तीव्र है, तब तक वह ब्रह्मचारी कैसे बन सकता है? जब मनुष्य में प्रियता और अप्रियता की गहरी अनुभूति है, तब वह अपरिग्रही कैसे बन सकता है? हमारी जैसी वृत्ति होगी, वैसी ही प्रवृत्ति होगी। हमारा सारा आचरण और सारा व्यवहार हमारी मौलिक वृत्ति पर आधारित होता है। वृत्ति प्रवृत्ति को जन्म देती है। प्रवृत्ति परिणाम लाती है। यह एक पूरी शृंखला है, जिसमें एक को भी छोड़ा नहीं जा सकता।

आज की समस्या इसीलिए उलझी हुई है, क्योंकि हम केवल परिणाम को मिटाना चाहते हैं। दूसरों की बात छोड़ दें, धार्मिक लोग भी परिणाम को मिटाना चाहते हैं। आदमी आता है, सीधा कहता है, 'महाराज! गुस्सा बहुत आता है। इसे छोड़ना चाहता हूँ।' ये सारे परिणाम हैं। इनके पीछे भी बहुत कुछ

है। उसकी भी खोज होनी चाहिए। क्रोध आता है, उसके पीछे भी कोई शारीरिक कारण होता है। क्रोध के पीछे मानसिक एवं पौद्गलिक कारण होता है। क्रोध के पीछे छिपा हुआ एक कारण है—संस्कार। क्रोध का संस्कार है एक वृत्ति। राग और द्वेष की वृत्ति काम कर रही है। किसी से घृणा करना, डरना, प्रेम करना। इनसे सारी प्रवृत्तियाँ पैदा होती हैं और अपना परिणाम लाती हैं। जब घर में विवाद होता है, कलह होता है, झगड़ा होता है, तब यही कहा जाएगा कि लड़ो मत, विवाद मत करो, झगड़ा मत करो। पर लड़ने वाला क्यों नहीं लड़ेगा? लड़ने की पूरी सामग्री तो भीतर भरी पड़ी है। लड़ाई के कारण भी भीतर सक्रिय हैं। लड़ने की पूरी शक्ति अंदर काम कर रही है और हम आदमी से कहते हैं कि लड़ाई मत करो। हमने चूल्हा सुलगा दिया, ईंधन जला दिया और कहते हैं कि लपट मत दो, गर्मी मत दो। अपने हाथ से चूल्हा जलाया, ईंधन डाला, आग सुलग उठी, भभक उठी और कहते हो कि गर्मी मत दो। यह कैसे संभव होगा? आँच एक परिणाम है, ताप एक परिणाम है। उस परिणाम को कैसे मिटाया जा सकता है? आग हो और ताप न हो, यह कैसे संभव है? यदि ताप को मिटाना है तो आग को बुझाना होगा। आग को बुझाना नहीं चाहते, लेकिन ताप से बचना चाहते हैं। आदमी ने कुछ ऐसे उपाय भी किए हैं, पर परिणाम को मिटाने में वे सारे उपाय तात्कालिक ही होते हैं। वे स्थायी और बहुत फलप्रद भी नहीं होते। हमारी सारी समस्याओं और उलझनों पर हम ध्यान दें तो निष्कर्ष यही निकलेगा कि हम केवल परिणाम की परिक्रमा कर रहे हैं। यह परिक्रमा इतनी बड़ी है कि उसका कहीं अंत नहीं होता और समस्या का कोई समाधान भी नहीं निकलता। हम मूल तक नहीं पहुँच पा रहे हैं। ऐसी भ्रांति होती है कि मूल सामने है, लेकिन मूल पर हमारा ध्यान ही नहीं जाता।

मनोबल मजबूत करें

मानसिक स्वास्थ्य का प्रश्न हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण है। शारीरिक स्वास्थ्य का महत्व कम नहीं है, परन्तु मानसिक स्वास्थ्य उससे बहुत अधिक महत्व का है। सच तो यह है कि हम न तो शरीर के विषय में अधिक जानते हैं और न मन के विषय में। हमारे ज्यादा काम आती हैं इंद्रियाँ। इंद्रियों द्वारा प्राप्त वस्तुओं का भोग भी अधिक होता है। सारी शक्ति उन्हीं में खत्म हो जाती है,

इसीलिए मनुष्य बहिर्गामी बना हुआ है। उसने अपनी अन्तर्दृष्टि का विकास नहीं किया है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर अन्तर्दृष्टि के विकास की क्षमता है। वह सूक्ष्म, सूक्ष्मतरंग बात को जान सकता है, ऐसी उसमें शक्ति है, पर कभी उसने प्रयास ही नहीं किया। बिना प्रयास किए कुछ भी नहीं होता और जो कार्यजा शक्ति होती है, वह भी निकम्मी बन जाती है। शरीर का जो अवयव काम में नहीं लिया जाता, वह शक्तिहीन हो जाता है। अन्तर्दृष्टि भी जब काम में नहीं ली जाती है, तब वह भी निकम्मी हो जाती है। स्थूलदृष्टि की उपयोगिता है, पर केवल स्थूलदृष्टि में सूक्ष्म सत्य को जानने की शक्ति का विकास करना भी आवश्यक है। केवल स्थूल सत्य से जीवन तो चल जाएगा, पर अच्छा जीवन नहीं चलेगा। हमें दोनों को जानना चाहिए। स्थूल को भी और सूक्ष्म को भी।

मनोबल और मानसिक स्वास्थ्य

हम स्थूलदृष्टि के साथ-साथ सूक्ष्मदृष्टि का विकास करें। यदि सूक्ष्मदृष्टि से देखेंगे तो शरीर का मूल्य भी बदल जाएगा, मन का मूल्य भी बदल जाएगा। उस स्थिति में ही समझ पाएंगे कि शरीर का स्वास्थ्य क्या है और मन का स्वास्थ्य क्या है? मानसिक स्वास्थ्य और मनोबल, दोनों जुड़े हुए हैं। मनोबल है तो मन का स्वास्थ्य बना रहेगा। मनोबल टूटता है तो मन का स्वास्थ्य भी कमजोर हो जाता है। मनोबल के बिना मानसिक स्वास्थ्य को ठीक नहीं रखा जा सकता है।

मनोबल सबमें समान नहीं होता। किसी में एक प्रतिशत, किसी में दो प्रतिशत और किसी में पाँच प्रतिशत मनोबल होता है। अगर हजार आदमी हैं तो मनोबल की मात्रा भी हजार प्रकार की बन जाएगी। लाख हैं तो उसके लाख प्रकार बन जाएँगे। मनोबल कम हुआ, मानसिक स्वास्थ्य भी कम हो जाएगा।

मानस दोष

प्रश्न होता है मनोबल कम क्यों होता है? आयुर्वेद में इसका विचार किया गया है। मनोबल की कमी का कारण है मानसिक दोष, आंतरिक मन का दोष। अपना दोष है, इसीलिए मनोबल कम होता है। इसकी अगर अध्यात्म की भाषा के साथ तुलना की जाए तो एक बात स्पष्ट हो जाएगी कि भाव और

मन हमारी दो शक्तियाँ हैं। मन है चिंतन, कल्पना और विचार की शक्ति और भाव है उससे भी सूक्ष्म शक्ति, आंतरिक शक्ति। क्रोध, अहंकार, भय, ईर्ष्या, द्वेष—ये सारे भाव हैं। ये जब मन के साथ जुड़ जाते हैं, तब मनोबल कहलाते हैं। भाव के साथ मन जुड़ता है। आयुर्वेद में इसे मानस दोष कहा गया है। जब मानस दोष आता है, मन में विकार पैदा हो जाता है, मन की शक्ति टूटने लगती है। आदमी सहन नहीं कर पाता।

*बीमार ने डॉक्टर से कहा—‘दर्द इतना हो रहा है कि मैं सहन नहीं कर पा रहा हूँ। इच्छा हो रही है कि मैं मर जाऊँ।’
डॉक्टर ने कहा—‘बहुत अच्छा किया जो मुझे बुला लिया।
अब जीने की आशा ही नहीं है।’*

मानस दोष के प्रकार

मरने में सहयोग करने वाले भी कम नहीं हैं। मन को विकृत बनाने में सहयोग देने वाले भी कम नहीं हैं। बाहर भी हैं, भीतर भी हैं। भीतरी कारणों की मीमांसा की गई। मानस दोष के दो प्रकार बताए गए। एक है निजी मानस दोष और दूसरा है आंगंतुक बाधा। आयुर्वेद के अनुसार आंगंतुक हैं—भूतबाधा और ग्रहबाधा, किन्तु निजी मानस दोष, जो आंतरिक मन के दोष हैं, जिनके कारण मन की शक्ति टूट जाती है, मनोबल घट जाता है। उन कारणों की एक लम्बी सूची है। उस सूची से लगता है कि अध्यात्म और आयुर्वेद दोनों साथ-साथ चले हैं। एक आदमी आध्यात्मिक जीवन जीता है तो जाने-अनजाने में आयुर्वेद के मार्गदर्शन को पा लेता है और स्वास्थ्य का सूत्र पकड़ लेता है। एक व्यक्ति आयुर्वेद के सूत्र से अपना जीवन चलाता है तो शायद अध्यात्म की भूमिका तक पहुँच जाता है। आयुर्वेद के साथ एक दर्शन रहा है अध्यात्म का। यह माना जाता है कि आयुर्वेद के ऋषि सांख्य दर्शन से बहुत प्रभावित रहे हैं, इसलिए उसमें अध्यात्म का प्रभाव भी आया है। भारतीय दर्शनों में चरक का भी एक दर्शन बन गया। जैनागमों में चरक का एक दार्शनिक के रूप में उल्लेख मिलता है। चरक आयुर्वेद के मुख्य आचार्य हैं।

कर्म का वर्गीकरण

आयुर्वेद में जो मानस दोष की सूची है, यदि जैन दर्शन की भाषा में कहें

तो वह मोहनीय कर्म की प्रकृतियों की सूची है। मोहनीय कर्म की जो प्रकृतियाँ हैं, वे मन को विकृत करने वाली होती हैं। आठ प्रकार के कर्म होते हैं। जयाचार्य ने इनका वर्गीकरण कर तीन भागों में बाँट दिया—आवारक, अवरोधक और विकारक। कुछ कर्म आवरण पैदा करने वाले हैं। वे कोई नुकसान नहीं करते, वे केवल पर्दा डाल देते हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण, ये दो कर्म आवारक हैं। कुछ कर्म अवरोधक है। अवरोध पैदा करने वाले हैं। अन्तराय कर्म प्रतिघात करता है, शक्ति का स्खलन करता है। मोहनीय कर्म विकारक है, विकार पैदा कर देता है। जितनी भी विकृति है, आचरण या चरित्र की विकृति है, उसका घटक है मोहनीय कर्म। सीधी भाषा में कहें तो जितना भी बिगाड़ होता है, वह मोहनीय कर्म करता है। दर्शनमोह दृष्टिकोण में विकार लाता है, चरित्रमोह चरित्र में विकार पैदा करता है। विकार करनेवाला कर्म है मोहनीय कर्म।

अध्यात्म एवं आयुर्वेद

आयुर्वेद की भाषा में विकार पैदा करने वाला है—मानस दोष। काम, क्रोध, लोभ, भय, ईर्ष्या, मात्सर्य, मोह आदि मानस दोष सूची के मुख्य सूत्र हैं। ये आयुर्वेद के सूत्र हैं या अध्यात्म के सूत्र हैं? एक धार्मिक आदमी समझेगा कि धर्म की बात कही जा रही है, किन्तु आयुर्वेद स्वास्थ्य की दृष्टि से विचार रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपना मानसिक स्वास्थ्य सुरक्षित रखना चाहता है, चाहे वह धर्म को माने या न माने, धर्म में आस्था रखे या न रखे। जो अपना मानसिक स्वास्थ्य ठीक रखना चाहता है, उसे इन मानस दोषों से बचना चाहिए। जो इनसे नहीं बचेगा, उसका मानसिक स्वास्थ्य अच्छा नहीं रह पाएगा।

कभी-कभी दो दिशाएँ एक साथ मिल जाती हैं। एक आध्यात्मिक व्यक्ति कहेगा—यदि तुम्हें पाप और अधर्म से बचना है, तो क्रोध, लोभ, भय, ईर्ष्या इन सबसे बचना होगा। यह अध्यात्म की वाणी होगी। स्वास्थ्यशास्त्र को जानने वाला व्यक्ति कहेगा—यदि तुम शारीरिक और मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रहना चाहते हो तो मानस दोषों—काम, क्रोध, लोभ, भय, ईर्ष्या आदि से बचो। यह आयुर्वेद की वाणी है।

उद्देश्य का अंतर

आयुर्वेद का लक्ष्य है मानसिक स्वास्थ्य की सुरक्षा और अध्यात्म का लक्ष्य है पाप से बचाव, अधर्म से बचाव। एक का उद्देश्य है आत्मा की रक्षा और दूसरे का उद्देश्य है स्वास्थ्य की रक्षा। उद्देश्य भिन्न होने पर भी विषय में कोई भेद नहीं है। विषय आ गया, क्रोध से बचना है, काम से बचना है। इन दोनों का एक सूत्र है। काम का मतलब है इंद्रिय विषयों के प्रति आसक्ति। काम की आसक्ति होती है, मनोबल टूट जाता है। एक सैनिक युद्ध के मोर्चे पर लड़ रहा है। काम की आसक्ति आ गई। वह सोचेगा—पीछे क्या होगा? नई-नई शादी हुई है, पत्नी का क्या होगा? बस मनोबल टूट गया। एक व्यक्ति सबेरे-सबेरे लम्बी-लम्बी डींगें हाँकता है, मैं ऐसा कर सकता हूँ, वैसा कर सकता हूँ। मैं कभी चिंता नहीं करता, चाहे कोई भी कष्ट आ जाए। ऐसा लगता है कि इस जैसे मनोबल वाला व्यक्ति कोई दूसरा है ही नहीं। सांझ होते-होते समाचार आया, जवान बेटा दुर्घटना में मारा गया। बस, मनोबल पलायन कर गया, टूट गया। पता नहीं मनोबल था भी या नहीं। एक मानस दोष पैदा हुआ, वह मनोबल को लील गया।

मात्सर्य

कुछ मानस दोष ऐसे होते हैं, जो मीठे होते हैं, तेज नहीं होते। उनका पूरा पता नहीं चलता। जब वे वेग में आते हैं तो स्थिति बदल जाती है, मन का बल टूट जाता है। मानसिक दोष जब तीव्र बन जाते हैं, तब वे एकसाथ मनोबल को चट कर जाते हैं।

मात्सर्य एक मानस दोष है। दूसरे की विशेषता को सहन न करने की वृत्ति है मात्सर्य। मनोबल का एक अर्थ है—सहन करने की शक्ति। ईर्ष्या और मात्सर्य। इन दोनों का काम है सहनशक्ति को नष्ट कर देना। ईर्ष्या से जलन पैदा हो जाती है। मात्सर्य से भरा व्यक्ति दूसरे की विशेषता को सहन नहीं कर सकता। वह क्रूर बन जाता है। ईर्ष्या और मात्सर्य की कितनी ही कहानियाँ हमारे यहाँ प्रचलित हैं। जहाँ एक व्यक्ति दूसरे की विशेषता को सहन नहीं कर सकता, वहाँ सारी मानसिक स्थिति बिगड़ जाती है। यह स्थिति व्यापक बन गई है। आज के युग में सबसे बड़ी बीमारी

सहन न करने की बीमारी है। कोई किसी को सहन करना जानता ही नहीं। न बाप बेटे को सहन करना जानता है और न बेटा बाप को सहन करना जानता है। जहाँ बेटे की प्रशंसा की जाती है, वहाँ बाप का मुँह उतर जाता है। वह सोचता है—मेरी नहीं मेरे बेटे की प्रशंसा कर रहा है। उसका मन ईर्ष्या से भर जाता है।

भय

भय एक प्रबल मानस दोष है। आदमी में भय इतना भरा पड़ा है कि वह निरंतर भयभीत रहता है। आज ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलता, जिसे पूर्ण अभय कहा जा सके। भगवान महावीर ने कहा—‘सव्वओ अप्पमत्तस्स णत्थि भयं’ जो अप्रमत्त होता है, वह अभय होता है, उसे कहीं से भी भय नहीं होता। एक भी व्यक्ति मिलना मुश्किल है जो कहीं भी प्रमाद न करे। कहीं न कहीं कोई चूक, कोई विस्मृति हो जाती है। प्रमाद होता है तो भय होता है। जिस व्यक्ति के मन में थोड़ी भी आकांक्षा शेष है, वह कभी अभय नहीं हो सकता। वह सोचता है—बात तो सही है, किन्तु कह दूँगा तो सामनेवाला विरोध करने लग जाएगा। बस, तभी कहीं मन के एक कोने में अवरोध पैदा होता है, वह सच्चाई से दूर चला जाता है, अप्रमत्त नहीं रह जाता, प्रमाद में चला जाता है। जहाँ-जहाँ प्रमाद, वहाँ-वहाँ भय और जहाँ-जहाँ भय, वहाँ-वहाँ मानसिक स्वास्थ्य की गिरावट। आज मानसिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति किसे कहा जाए? यह एक बड़ा प्रश्न है।

वीतराग की भूमिका

मानसिक दृष्टि से स्वस्थ आदमी को खोजना बड़ा मुश्किल है। अध्यात्म के क्षेत्र में एक व्यक्ति का ऐसा चरित्र मिलता है, जिसे मन की दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ कहा जा सकता है। वह है वीतराग या अप्रमत्त। साधना की भूमिकाओं में पाँचवीं भूमिका गृहस्थ श्रावक की होती है। छठी भूमिका है मुनि की। अप्रमत्त मुनि को मानसिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ कहा जा सकता है, किन्तु उसके साथ यह समस्या जुड़ी हुई है कि अप्रमत्त अवस्था ज्यादा समय तक टिकती नहीं है। छठी भूमिका वाला मुनि प्रमत्त भूमिका में जीता है। वह कभी-कभी अप्रमत्त भूमिका में जाता है, किन्तु फिर प्रमत्त की भूमिका में आ जाता है। वह

अधिक समय तक रह नहीं पाता, क्योंकि उसमें प्रमाद है। यह भूमिका बदलती रहती है। मानसिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ रहने के लिए प्रमाद की भूमिका से बाहर आना आवश्यक होता है। अप्रमत्त भूमिका मानसिक दृष्टि से पूर्ण स्वास्थ्य की भूमिका है। वीतराग की भूमिका पूर्ण अप्रमत्त अवस्था की भूमिका है। शेष अल्पकालिक अप्रमत्त अवस्था की भूमिकाएँ हैं। बिना वीतराग की भूमिका के किसी को पूर्ण स्वस्थ कह पाना कठिन होता है। मुनि को भी पूर्ण स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। उसके मन में समय-समय पर जाने कितने मानस दोष आ जाते हैं! मुनि कभी लोभ में, कभी क्रोध में, कभी अहंकार में चले जाते हैं। ये विकल्प आते रहते हैं। जब मुनि की यह स्थिति है तो एक गृहस्थ के बारे में क्या कहा जा सकता है ?

स्वर्णिम सूत्र

- ◆ तुम चाहते हो - सब मुझ पर विश्वास करें। पहले देखो - तुम अपने पर कितना विश्वास करते हो।
- ◆ दूसरा मेरे बारे में क्या सोचता है - ऐसा मत सोचो, इससे तनाव बढ़ेगा। यह सोचो - मैं अपने बारे में क्या सोचता हूँ।
- ◆ क्या अभ्यास के बिना साध्य सध सकता है? संभव नहीं, इसलिए अभ्यास पर ध्यान केन्द्रित हो।
- ◆ विजय कैसे प्राप्त होती है? इस पर चिंतन चले तो व्यक्ति कभी पराजित नहीं होता। विजय के लिए आवश्यक है - संकल्प शक्ति का विकास।

करके देखें

● अभय की अनुप्रेक्षा—भय मुक्ति के लिए

सहज आसन में बैठ जाएं, श्वास को भरें, आंखें कोमलता से बंध रहें, मुंह बंद। श्वास छोड़ते समय भौंवे के गुंजन की तरह ध्वनि करें। इस ध्वनि को महाप्राण ध्वनि कहते हैं। इसकी तीन आवृत्ति करें। उसके पश्चात शरीर को तनाव मुक्त, कहीं जकड़न नहीं, रिलेक्स करें। शरीर के दाहिने पैर के अंगुष्ठ से लेकर शरीर के प्रत्येक अवयव पर चित्त को ले जाते हुए शिथिलता का सुझाव दें। अब गुलाबी रंग का श्वास लें। अनुभव करें—चारों ओर गुलाबी रंग के परमाणु फैले हुए हैं। वे गुलाबी रंग के परमाणु श्वास के साथ भीतर प्रवेश कर रहे हैं। अब आनन्द केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित करें, अनुप्रेक्षा करें। 'अभय का भाव पुष्ट हो रहा है। भय का भाव क्षीण हो रहा है।' इस शब्दावली का पांच बार उच्चारण करें, फिर इसका पांच बार मानसिक जप करें। फिर अनुचिन्तन करें। शक्ति के विकास के लिए अभय की साधना करूँ, यह मेरा दृढ़ निश्चय है। मैं निश्चित ही भय से छुटकारा पा लूँगा। यह अनुचिन्तन दो मिनट तक करें और फिर तीन बार महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें।

● मंत्र का प्रयोग

ॐ ह्रीं श्रीं चन्द्र प्रभवे नमः—प्रतिदिन १०८ बार जाप करें।

परिणाम—प्रभावशाली व्यक्तित्व का निर्माण।

● आसन-प्राणायाम

कपाल भाति—पद्मासन में बैठें। आंखें कोमलता से बंद। शरीर को शिथिल और तनाव मुक्त करें। सर्वप्रथम दोनों नास-पुटों से धौंकनी की तरह श्वास-प्रश्वास करते हुए, शीघ्र गति से रेचन और पूरक करें। फेफड़ों को किसी प्रकार का आघात दिए बिना रेचन और पूरक की क्रिया की जाती है। शीघ्र गति से करने पर ही कपाल भाति निष्पन्न होती है। श्वास-प्रश्वास की इस क्रिया को प्रारंभ में ५ सैकण्ड से दस सैकण्ड तक करें फिर प्रतिदिन ५ सैकण्ड बढ़ाकर ३ मिनट तक ले जा सकते हैं।

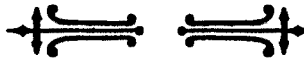
सावधानी—गर्मी के मौसम में न करें। आवश्यकता हो तो स्वल्प समय तक ही करें।

लाभ—एकाग्रता एवं संकल्पशक्ति विकसित होती है।

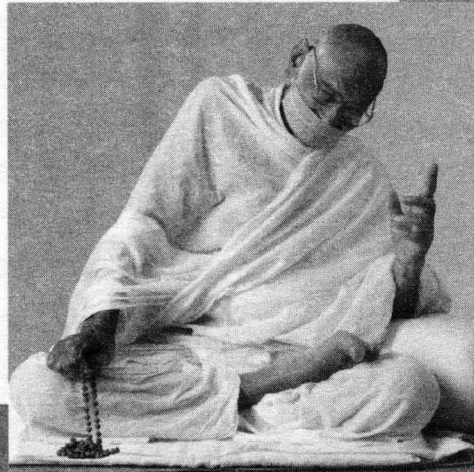
अध्याय कहता है

जो सार्वभौम व्यक्तित्व का निर्माण करता है—

- वह सात्त्विक गुणों का धारक होता है।
- वह प्राणीमात्र को अभयदान देता है।
- वह प्रतिक्रियात्मक हिंसा से बचता है।
- वह अनुशासित जीवन जीता है।
- वह संकल्प सिद्धि का प्रयोग करता है।
- वह मन का दास नहीं, स्वामी होता है।
- वह मजबूत मनोबल का धनी होता है।
- वह मानसिक स्वास्थ्य पर ध्यान देता है।
- वह अप्रमत्त रहने का अभ्यास करता है।



“जहां दूसरे का शोषण नहीं होता, दूसरों के लिए कुछ करने की बात होती है, वह समाज अपने आपमें अनूठा होता है, विकास के शिखर को छूने वाला होता है।”



अध्याय

५

लक्ष्य और योजना कभी छोटे नहीं होने चाहिए। छोटे लक्ष्य और छोटी योजनाओं से उत्साह नहीं जागता। वे कभी पूर्णता को प्राप्त नहीं होते। बड़ी योजनाएं और बड़े लक्ष्य पूरे होते हैं, क्योंकि उनके पीछे उत्साह और प्रेरणा का बल होता है।

स

माज सापेक्ष का दर्शन और प्रयोग है, इसलिए प्रत्येक बात सापेक्ष है। श्रम और स्वावलंबन भी सापेक्ष हैं। व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपना आलंबन स्वयं बने, दूसरा उसका आलंबन न बने। यह प्रमुख बात है, किन्तु दूसरे का सहारा लेना भी अवांछनीय और गलत नहीं माना गया। यह एक सामाजिक विधा है। भगवान महावीर ने इस बात पर ध्यान आकृष्ट किया, 'यदि तुम दूसरे का सहारा लेते हो, दूसरे का श्रम लेते हो, तो उसके साथ न्याय करो, उसका शोषण मत करो।'

जहाँ शोषण, वहाँ समस्या

जीवनशैली का एक सूत्र है, शोषण मत करो। शोषण से मुक्त होना धर्म का बड़ा आचार है। किसी भी मात्रा में, किसी भी दृष्टिकोण से, जिसका

जितना श्रम है, उसे अस्वीकार न करें, उसका शोषण न करें। श्रम शब्द सापेक्ष है। उसका तात्पर्य है कि अपना श्रम स्वयं करें। यदि दूसरे से काम लें तो उसका शोषण न करें। यह मनुष्य की वृत्ति रही है कि वह काम ज्यादा कराना चाहता है, वेतन कम देना चाहता है। इसी प्रतिक्रिया में यह वृत्ति बन गई कि काम करने वाला काम करना नहीं चाहता, पारिश्रमिक अधिक लेना चाहता है। समस्या दोनों ओर उलझ गई। जितना काम, उतना दाम। यह व्यवस्था होती तो समस्या कभी उलझती नहीं। आज सामाजिक दृष्टि से यह माना जाता है कि यदि किसी से काम लेना है तो पर्याप्त प्रतिफल दो। नीति बहुत स्पष्ट है, किन्तु आदमी लोभवश दूसरे का शोषण करता है। जहाँ शोषण होता है, वहाँ समस्या उभरे बिना नहीं रह सकती।

शोषणमुक्त समाज

बीसवीं शताब्दी का एक सर्वाधिक चर्चित शब्द है, 'शोषण'। आज शोषणमुक्त समाज की बात बहुत प्रिय लग रही है। प्रायः यह देखा जाता है कि सामान्य परिवार में जो व्यक्ति जन्म लेता है, वह परिश्रमी और सहनशील होता है। जो आर्थिक संकट में पलता है, वह शायद अधिक अच्छा होता है। दुनिया में जितने बड़े-बड़े लोग हुए हैं, वे प्रायः साधारण गाँवों के बहुत साधारण घरों में जन्मे। जहाँ दूसरे का शोषण नहीं होता, दूसरों के लिए कुछ करने की बात होती है, वह समाज अपने आप में अनूठा होता है, विकास के शिखर को छूने वाला समाज होता है।

शोषण : धार्मिक दृष्टि

शोषण न करें, इस सूत्र का धार्मिक दृष्टि से भी मूल्यांकन करें। धार्मिक दृष्टि यह है कि दूसरे के श्रम का शोषण करना हिंसा है, अहिंसा का अतिचार है। दूसरे की वृत्ति का छेद न करना, अहिंसा व्रत का एक नियम है। जिसने अहिंसा का व्रत स्वीकार किया है, यदि वह यह संकल्प स्वीकार करता है कि मैं किसी प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूँगा। यदि व्यक्ति दूसरे का शोषण करता है, तो इस व्रत को बाधा पहुँचाता है। शोषण एक प्रकार से दूसरे के प्रति घात हो जाती है। किसी के घर में पाँच-सात आदमी हैं। वह पूरा श्रम करता है और उसे २०० रुपए प्रति माह मिलते हैं। क्या यह संकल्पपूर्वक घात नहीं

है? भगवान महावीर ने इस तथ्य को सूक्ष्मता से देखा। उन्होंने कहा, 'यह एक प्रकार से मारने का ही प्रयत्न है। पूरा काम लेना और आजीविका का शोषण करना, अहिंसा व्रत का दोष है।'

व्रत व्यवस्था

प्रश्न हो सकता है, भगवान महावीर ने व्रतों पर इतना जोर क्यों दिया? कारण यही हो सकता है कि ये व्रत धार्मिक दृष्टि से जितने मूल्यवान हैं, सामाजिक दृष्टि से भी उससे कम मूल्यवान नहीं हैं। यद्यपि समाजशास्त्र, आचारशास्त्र आदि लिखे गए और उनमें अरस्तु, सुकरात आदि यूनानी दार्शनिकों को आधार बनाया गया। पता नहीं क्या बात है, किसी हिन्दुस्तानी लेखक ने महावीर की व्रत व्यवस्था को कभी आधार नहीं बनाया। इसका क्या कारण हो सकता है? उनका दृष्टिकोण संकीर्ण रहा है अथवा उन्हें सामग्री ही प्राप्त न हुई हो? प्राकृत भाषा का व्यवधान भी कारण हो सकता है। कारण कुछ भी हो, लेकिन इतना स्पष्ट कि महावीर की व्रत व्यवस्था आज भी अज्ञात है, अंधेरे में है। आज उसे प्रकाश में लाने की आवश्यकता है।

समाज में श्रम की स्थापना

अहिंसा व्रत का एक उपव्रत है कि मैं दूसरे का शोषण नहीं करूँगा। दूसरे का शोषण नहीं होगा, तो अपना श्रम बढ़ेगा। आज श्रम के प्रति थोड़ा वैकल्प पैदा हो गया है। इसका एक कारण है, आदमी आराम चाहता है। दूसरा कारण यह मनोवृत्ति है कि मैं आराम करूँ और फल भी मुझे मिल जाए। यह एक मिथ्या धारणा बन गई कि श्रम करने वाला छोटा होता है और श्रम न करने वाला बड़ा आदमी होता है। इस दृष्टिकोण ने श्रम की व्यवस्था और महत्त्व को भुला दिया। हम इस सच्चाई को भुला रहे हैं। दुनिया में जितने भी महान आदमी हुए हैं, वे प्रायः श्रमिक हुए हैं। आचार्यश्री तुलसी निरंतर १५-१६ घंटे श्रम करते थे। जो श्रमिक नहीं है, वह सच्चा शासक भी नहीं हो सकता। कहा गया है—पृथ्वी रूपी गाय का लाभ तीन व्यक्ति उठा पाते हैं। उनमें एक है श्रमिक। श्रमिक का अर्थ यह नहीं है कि वह फावड़ा ही चलाए। यह श्रम का विभाजन है। कुछ लोग मानते हैं, जो उत्पादक श्रम नहीं करता, उसका श्रम नहीं माना जा सकता। यह अपना-अपना दृष्टिकोण है। व्यावहारिक दृष्टि से

समाज में श्रम का विभाजन होता है। उस विभाजन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना काम करे, कोई निकम्मा न रहे तो श्रम का मूल्यांकन संभव बन सकता है।

प्रगति का पथ

श्रम की प्रतिष्ठा का यह सूत्र जीवनशैली का अनिवार्य अंग होना चाहिए। जितने भी पुरुषार्थवादी हुए हैं, उनमें प्रथम पंक्ति में गिने जाते हैं भगवान महावीर। बहुत लोग नियतिवादी हैं। पुरुषार्थवादी ईश्वरवादी नहीं हो सकते। ईश्वरवाद नियतिवाद है। जो होगा, वह ईश्वर के द्वारा ही होगा। उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। यह है ईश्वरीय नियतिवाद। भगवान महावीर ने नियतिवाद का खंडन कर पुरुषार्थवाद का प्रतिपादन किया। जहाँ आत्मकर्तृत्ववाद मान्य है, वहाँ कोई भी व्यक्ति श्रम किए बिना नहीं रह सकता। जिसमें श्रम की निष्ठा नहीं होती, जो श्रम नहीं करता, वह सचमुच पिछड़ जाता है। श्रमनिष्ठा प्रगति और विकास का रहस्य सूत्र है।

चारी-संजीवनी न्याय

आचार्य हेमचंद्र जा रहे थे, साथ में राजा सिद्धराज भी चल रहे थे। राजा सिद्धराज ने पूछा, 'कौन-सा धर्म अच्छा है?'

'राजन्! बहुत सारे धर्म हैं और अच्छे भी हैं, पर धीरे-धीरे समझ में आ जाएगा।'

'महाराज! कैसे समझ में आएगा?'

'श्रम करोगे तो समझ में आ जाएगा।'

'महाराज! यह कैसे होगा?'

'राजन्! चारी-संजीवनी न्याय से पकड़ में आएगा।'

'महाराज! यह चारी-संजीवनी न्याय क्या है?'

'राजन्! एक महिला को ऐसी औषधि मिली, जिसे किसी मनुष्य को खिला दे तो वह पशु बन जाए। एक दूसरी औषधि भी मिली, जिसे खिलाने पर पशु पुनः मनुष्य बन

जाए। उसके मन में प्रयोग करने की भावना जागी। किस पर उसका प्रयोग करे? उसने अपने पति पर ही उस दवा का प्रयोग कर दिया। पति बैल बन गया। संयोग ऐसा मिला कि पुनः मनुष्य बनाने की औषधि गुम हो गई। अब क्या करे? उसे इतना ज्ञात था कि अमुक जड़ी के पास ही वह औषधि है, जिसे खिलाने पर पुनः मनुष्य बनाया जा सकता है। यह पता कैसे चले कि अमुक औषधि वही है? कुछ क्षण विचार करने के बाद उसने निश्चय किया कि प्रत्येक औषधि का परीक्षण करना होगा। उसने एक-एक जड़ी को काट-काटकर खिलाना शुरू किया। काटते-काटते वह जड़ी भी आ गई। उसे खाते ही बैल पुनः पुरुष बन गया।

महिला ने पूरा श्रम किया, उसे पति उपलब्ध हो गया। यदि वह इतना श्रम नहीं करती तो उसका पति बैल ही बना रह जाता।'

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा, 'इसी प्रकार अनेक धर्मों का परीक्षण करते-करते तुम्हें वह धर्म मिल जाएगा, जो सबसे अच्छा है।'

श्रमनिष्ठा का सिद्धान्त

मनुष्य ने जिन सच्चाइयों का पता लगाया है, जितने रहस्यों का अनावरण हुआ है, वह मानवीय श्रम और पुरुषार्थ के द्वारा ही हुआ है। आराम और निराशा से किसी भी सच्चाई को अनावृत नहीं किया जा सकता। जरूरी है श्रमनिष्ठा और श्रम का अनुशीलन। मनुष्य श्रम कम करना चाहता है, आराम ज्यादा चाहता है। श्रमनिष्ठा का सिद्धान्त जीवनशैली का मुख्य अंग होना चाहिए। जिसने पुरुषार्थवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, जो नियतिवाद को एकान्ततः स्वीकार करता है। उसकी जीवनशैली स्वावलंबन और श्रम-प्रधान होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के दिमाग में श्रम और स्वावलंबन की छवि अंकित होनी चाहिए। जिसे अपने कर्तृत्व और पुरुषार्थ पर विश्वास है, वह श्रम और स्वावलंबन की उपेक्षा नहीं कर सकता। जिसका दिमाग श्रमनिष्ठा का नहीं होता है, वह परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए बहुत कल्याणकारी नहीं होता।

लोकतंत्र का आधार है व्यक्ति। उसके मन में यदि श्रम के प्रति निष्ठा नहीं है, तो स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण कैसे संभव होगा? प्रत्येक व्यक्ति की जीवनशैली का प्रमुख तत्त्व है स्वावलंबन। स्वावलंबन का तात्पर्य है दूसरे के श्रम का शोषण न करना। उसके प्रति निष्ठा घनीभूत बन जाए तो वह समाज और राष्ट्र के लिए उपयोगी एवं वरदान जैसी सिद्ध हो सकती है।

दुःख से बचाव

मनुष्य जो चाहे वह मिल जाए, यह संवादिता है। सुख चाहे और सुख मिल जाए, यह संवादिता है। जैसी चाह, वैसी प्राप्ति। सुख चाहे और दुःख मिल जाए, यह विसंवादिता है, विपर्यास है, किन्तु ऐसा होता है। प्रश्न है कि ऐसा क्यों होता है?

सुख और दुःख

शिष्य ने यही प्रश्न आचार्य से पूछा —

सुखं वांछति सर्वोऽपि, दुःखं कोऽपि न वांछति।

सुखार्थं यतते लोको, दुःखं तथापि जायते॥

सब प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख को कोई नहीं चाहता। व्यक्ति सुख के लिए प्रयत्न करता है, फिर भी उसे दुःख मिल जाता है। इसका कारण क्या है?

आचार्य ने कहा—

दुःखं मूर्च्छां मनुष्याणां, अमूर्च्छां वर्तते सुखम्।

मूढो दुःखमवाप्नोति, अमूढः सुखमेधते॥

मूर्च्छा दुःख है, सुख है अमूर्च्छा। मूढ़ व्यक्ति दुःख को प्राप्त करता है। जो मूढ़ नहीं है, वह सुख को प्राप्त करता है।

अभावात्मक परिभाषा

सुख और दुःख की एक परिभाषा है, 'मूर्च्छा दुःख है, अमूर्च्छा सुख है।' सुख-दुःख की अनेक परिभाषाएँ गढ़ी गईं। पश्चिम के नीतिशास्त्रियों और भारत के अध्यात्मवेत्ताओं ने सुख-दुःख के संदर्भ में अनेक परिभाषाएँ दीं। एपीक्यूरस की एक परिभाषा है, 'दुःख का अभाव ही सुख है।' यह अभावात्मक परिभाषा है। व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक पीड़ा नहीं है,

वह कहता है कि मैं तो मजे में हूँ, बड़ा सुख है। यह दुःख के अभाव से उत्पन्न स्थिति है। किसी प्रकार का दुःख नहीं है, इसलिए आदमी उसे सुख मानता है। वस्तुतः यह सुख की एक अपूर्ण परिभाषा है। क्या सुख अभावात्मक ही है? क्या दुःख का न होना ही सुख है? किसी व्यक्ति ने बगीचे में सुंदर फूल देखा, उसका मन उल्लास से भर गया। वहाँ क्या दुःख का अभाव ही है? वहाँ विधायक है सुख। अच्छा संगीत सुना, सुख मिला। यह क्या है? क्या यह दुःख का अभाव है? दुःख का अभाव सुख है, यह आंशिक सच्चाई ही हो सकती है।

भावात्मक परिभाषा

नीतिशास्त्री सिजविक ने सुख की परिभाषा की, 'वांछनीय की अनुभूति का नाम सुख है। जो अनुभूति वांछनीय है, वह सुख है।' यह भावात्मक परिभाषा है। हमें जो वांछनीय अनुभूतियाँ होती हैं, उन्हीं के बारे में हम चाहते हैं कि पुनः ऐसा ही हो। यह हमारा सुख पक्ष है। ऐसी ही परिभाषा न्यायिक और वैशेषिक दर्शन में प्राप्त होती है, 'अनुकूलवेदनीयं सुखम्, प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्,' जो अनुकूल वेदनीय है, वह सुख है एवं जो प्रतिकूल वेदनीय है, वह दुःख है।

वस्तुतः सुख-दुःख की परिभाषा करते समय हमें चेतना के अनेक स्तरों में विभाजन कर लेना चाहिए। ऐसा किए बिना सुख को समग्रता से परिभाषित नहीं किया जा सकता। एक सुख है, इंद्रिय संवेदना का। पाँच इंद्रियाँ हैं। उनके अनुकूल विषय मिलते हैं, तो सुख होता है। इंद्रिय संवेदन के आधार पर 'अनुकूल वेदनीयं सुखं' यह परिभाषा घटित हो सकती है, किन्तु मानसिक एवं भावात्मक स्तर पर यह परिभाषा घटित नहीं हो सकती। सुख-दुःख की अनेक परिभाषाएँ इंद्रिय और मन के स्तर पर की गई हैं। भावनात्मक स्तर पर बहुत कम परिभाषाएँ दी गई हैं।

संवेदन और सुख का संबंध

हम इंद्रिय स्तर की बात करें। एक आदमी अपने वातानुकूलित मकान में बैठा है। वह भोजन कर रहा है। उसकी थाली में स्वादिष्ट पदार्थ परोसे हुए हैं। पत्नी पंखा झल

रही है। सारा वातावरण अनुकूल है। खाते समय अनुकूल इंद्रिय संवेदन हो रहा है, बड़े सुख का अनुभव हो रहा है। उसी समय एक फोन आया और खबर मिली कि पचास लाख का घाटा लग गया है। अब क्या होगा? वे ही स्वादिष्ट पदार्थ सामने हैं, सुख-सुविधा के साधन भी वे ही हैं, किन्तु इंद्रिय संवेदन का सुख समाप्त हो गया। एक गहरा आघात लगा। जो पदार्थ, जो खाना सुख दे रहा था, वह जहर के समान लगने लगा। यह कैसे हुआ?

जिस स्तर पर सुख का संवेदन था, दूसरा स्तर आते ही वह संवेदन समाप्त हो गया, दुःख का स्रोत फूट पड़ा। व्यक्ति अपने दुःख से मूढ़ बन गया। घाटा कहीं लगता था, किन्तु अपने भीतर मूर्च्छा थी, दुःख था। वह प्रकट हुआ, व्यक्ति अपने ही दुःख से मूढ़ बना, सुख के स्थान पर दुःख का साम्राज्य हो गया।

महावीर की परिभाषा

महावीर ने कहा, 'आदमी चाहता है सुख और जाता है दुःख की दिशा में।' वह मूढ़ व्यक्ति अपने द्वारा कृत कर्म से विपर्यास को प्राप्त होता है, सुख का अर्थी होकर दुःख को प्राप्त करता है। हम महावीर की वाणी के अनुसार सुख और दुःख की परिभाषा करें। उनके अनुसार सुख और दुःख की परिभाषा होगी, 'मूर्च्छा दुःखम्, अमूर्च्छा सुखम्।' मूर्च्छा है दुःख, अमूर्च्छा है सुख।

मूर्च्छा है भावात्मक अवरोध। क्रोध, भय, ईर्ष्या, अहंकार, ये सब मूर्च्छा के प्रकार हैं। जहाँ-जहाँ मूर्च्छा आती है, आदमी दुःखी बन जाता है। मूर्च्छा के कारण आदमी दुःख का संवेदन करता है। दुःख का सबसे बड़ा कारण मूर्च्छा है। सुख का सबसे बड़ा कारण अमूर्च्छा है। मूर्च्छा और मोह मिटता है तो कभी विपर्यास नहीं होता।

सुख-दुःख का सेतु

आदमी चलता है सुख के लिए और दुःखी बन जाता है। प्रश्न है, ऐसा क्यों होता है? सुख और दुःख के बीच एक सेतु है, उसे पकड़ा नहीं गया। महावीर ने बहुत अच्छा सेतु बता दिया। एक ओर व्यक्ति सुखार्थी है,

दूसरी ओर दुःख है। इसका कारण है व्यक्ति अपने ही दुःख से मूढ़ बना हुआ है।

अबद्ध को कोई बाँध नहीं सकता, अदुःखी को कोई दुःखी नहीं बना सकता। दुःखी व्यक्ति ही दुःख को पाता है। व्यक्ति दुःखी है, इसीलिए वह दुःख पाता है। व्यक्ति में सुख की लालसा जागती है दुःख को मिटाने के लिए, किन्तु भीतर दुःख भरा हुआ है। वह सुख की ओर कैसे जा पाएगा? हम इस सच्चाई को समझें। जब तक मूर्च्छा रहेगी, व्यक्ति दुःखी बना रहेगा। एक भाई ने कहा, 'मुझे डर बहुत लगता है। मोटर से यात्रा करता हूँ, ट्रेन से यात्रा करता हूँ, तो लगता है कि दुर्घटना हो जाएगी। पुल पर चढ़ता हूँ तो पुल टूटने का भय लगता है। गिरने का भय लगता है।' वस्तुतः हम अपने ही डर से दुःखी बने हुए हैं, मूढ़ बने हुए हैं।

नया ब्रह्मचर्य

जब तक मूर्च्छा को मिटाने या कम करने की बात नहीं सोची जाएगी, तब तक हजारों-हजारों साधनों को पा लेने के बाद भी आदमी दुःखी बना रहेगा। यदि पदार्थ की उपलब्धि और भोग से व्यक्ति सुखी होता तो सबसे ज्यादा सुखी होते पश्चिमी देशों के नागरिक। अमेरिका, जापान, जर्मनी आदि देशों के नागरिक बहुत सुखी होते, जहाँ पदार्थों की कोई कमी नहीं है, धन की नदियाँ बह रही हैं। अमेरिका में सेक्स के बारे में बहुत साहित्य प्रकाशित किया गया, काम-सुख के लिए अंधाधुंध प्रचार किया गया, किन्तु उसका परिणाम सुखद नहीं रहा। एक पुस्तक निकली—नया ब्रह्मचर्य। इसने अमेरिका में हलचल मचा दी। उसमें लिखा गया था, 'ब्रह्मचर्य से प्रसन्नता रहती है, शांति मिलती है।' लोग उस पुस्तक को पाने के लिए बेचैन बन गए। उन्होंने केवल इंद्रिय संवेदन के आधार पर ही सुख को समझा था। इंद्रिय संवेदन से परे भी सुख है, यह उनके लिए एक नई बात थी। अमूर्च्छा के स्तर पर, वीतरागता के स्तर पर, रागातीत चेतना के स्तर पर जो सुख होता है, उसके बारे में उन्होंने कभी सोचा ही नहीं था। ऐसी बात उन्हें सुनने को मिली, ऐसा लगा, आग की ज्वाला पर जल का अभिसिंचन हुआ है।

चिंतन की दिशा

गर्मी का मौसम। जेठ की दुपहरी। चिलचिलाती धूप। इस गर्मी में आदमी का दिमाग भी गर्म हो जाता है। दिमाग ठंडा होता है तो चिंतन में सुविधा होती है। दिमाग गर्म होता है तो चिंतन में असुविधा होती है। असुविधा ही नहीं, अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं और आदमी न जाने उस स्थिति में क्या-क्या कर बैठता है। स्वास्थ्य का एक लक्षण है कि पैर गर्म रहें और दिमाग ठंडा रहे। पर उल्टा हो जाता है। पैर ठंडे हो जाते हैं और दिमाग गर्म हो जाता है। यह विचित्र स्थिति है। यदि दिमाग ठंडा रहता है, तो आदमी बहुत समय तक जी सकता है, शांति और आनंद के साथ जी सकता है।

कायाकल्प

आज के वैज्ञानिक एक नई विधि का विकास कर रहे हैं, जिससे आदमी पाँच सौ या हजार वर्षों तक जी सके। वह विधि है शीतलीकरण की। आदमी को ठंड में जमा दिया जाए। दस वर्ष तक वह ठंड में जमा रहा। दस वर्ष बाद उसे गर्माया और वह जी उठा। यदि बार-बार इस शीतलीकरण की प्रक्रिया को दोहराया जाए, तो वह पाँच सौ वर्ष या हजार वर्ष भी जी सकता है। वैज्ञानिकों ने चींटियों को ठंड में जमा दिया। सब चींटियाँ मरी हुई लग रहीं थीं। दस मिनट बाद उन्हें गर्माया गया। वे पुनः जी उठीं। उनमें हलचल शुरू हो गई। हम बहुत बार देखते हैं कि मक्खियाँ और चींटियाँ जब बहुत ठंडे पानी में गिर जाती हैं, तब वे मृत जैसी हो जाती हैं, जब उन्हें भाप से गर्माया जाता है या धूप में रखा जाता है, तो वे पुनः जीवित हो उठती हैं।

शीतलीकरण के द्वारा मनुष्य का कायाकल्प किया जा सकता है। यदि बीमार को ठंडा किया जा सके तो वह बहुत लम्बी उम्र तक जी सकता है। एक बात और, यदि पूरे शरीर को ठंडा न किया जा सके, पर यदि दिमाग ठंडा रह सके, तो भी आदमी लम्बी उम्र तक जी सकता है। जितनी अकाल मृत्यु होती है, छोटी आयु में मौत होती है, उसका एक कारण यह है कि व्यक्ति का दिमाग बार-बार गर्म हो जाता है, आग बार-बार जल उठती है, आँच इतनी तेज हो जाती है कि कोशिकाएँ बहुत जल्दी नष्ट हो जाती हैं।

हमारे जीवन का आधार मस्तिष्क की कोशिकाएँ हैं। जब तक कोशिकाएँ

जीवित रहती हैं, सक्रिय रहती हैं, तो हृदय की गति बंद हो जाने पर भी आदमी मरता नहीं। कई बार ऐसा देखा गया है कि चिकित्सक जिस व्यक्ति को मृत घोषित कर देता है, वही व्यक्ति कुछ समय बाद जी उठता है। कभी-कभी वे व्यक्ति भी जी उठते हैं, जिनकी अर्था निकल चुकी है, जो श्मशानघाट पहुँच चुके हैं, जिन्हें चिता पर लिटाकर चारों ओर लकड़ियाँ चिन दी गई हैं, पर अचानक हलचल होती है। लकड़ियाँ इधर-उधर बिखर जाती हैं और वह व्यक्ति अंगड़ाई लेते हुए उठ बैठता है। लोग उसे भूत समझ लेते हैं, कुछ लोग भाग भी जाते हैं, पर यथार्थ में वह मरा नहीं था। वह जीवित था। चिकित्सक ने मृत घोषित कर दिया और हमने मान लिया। वास्तव में उसका मस्तिष्क सक्रिय था, वह अभी मरा नहीं था और जब तक मस्तिष्क नहीं मरता, आदमी नहीं मर सकता, फिर चाहे हृदय बंद हो जाए या नाड़ी बंद हो जाए।

हमारे जीवन का मूल आधार मस्तिष्क है। वह जितना ठंडा रहेगा उतना ही चिंतन स्वस्थ होगा। स्वस्थ एवं संतुलित चिंतन के लिए मस्तिष्क का ठंडा होना बहुत जरूरी है। इस दृष्टि से चिंतन का दूसरा मापदंड होगा कि चिंतन आवेश की स्थिति में किया जा रहा है या अनावेश की स्थिति में? आवेश चिंतन दोषयुक्त है। आवेश आया, चिंतन शुरू किया। इस स्थिति में चिंतन तो हो सकता है, लेकिन वह चिंतन स्वस्थ, संतुलित और विधायक नहीं होगा। विधायक चिंतन तभी हो सकता है, जब आवेश की स्थिति न हो। चिंतन का आधार तथ्य होना चाहिए। तथ्यों के आधार पर चिंतन उपयोगी होता है। जहाँ तथ्य गौण और आवेश मुख्य हो जाता है, वहाँ चिंतन कार्यकारी नहीं हो सकता। जो व्यक्ति ध्यान का अभ्यासी नहीं होता, जिसका मन पर अधिकार नहीं है, जिसका मन शांत और संतुलित नहीं है, वह व्यक्ति तात्कालिक एवं आवेशपूर्ण चिंतन करता है। उसका चिंतन कभी सही नहीं होता।

एक राजनेता के पास उसके मित्र ने आकर कहा कि अमुक-अमुक व्यक्ति तुम्हें गालियाँ बक रहा था। राजनेता ने सुना और गुस्से से लाल हो गया, बोला कि पहले मुझे चुनाव जीत लेने दो, मंत्री बन जाने दो, फिर मैं बता दूँगा कि गाली देने का परिणाम क्या होता है?

यह आवेशपूर्ण चिंतन का परिणाम है। पहले उसे जानना चाहिए था कि अमुक आदमी ने गालियाँ दी हैं या नहीं। एक बात हुई, आवेश आया और आवेश ही चिंतन बन गया। यह भयंकर अवस्था है। क्रोध का आवेश और अहंकार का आवेश कितना भयंकर होता है, यह अज्ञात नहीं है। नौकर बात नहीं मानता, तत्काल अहंकार का आवेश आ जाता है। उसे आवेश में क्या-क्या नहीं कह दिया जाता? गालियाँ दी जाती हैं, नौकर को पीटा जाता है, उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है। यह सब अहंकार के आवेश के कारण होता है। क्या यह जरूरी है कि हर आदमी हर आदमी का आदेश माने? कोई जरूरी नहीं है। मानना अच्छा होता है, पर कभी-कभी न मानना उससे भी ज्यादा अच्छा होता है।

मालिक ने नौकर से कहा, 'जाओ, बगीचे में पानी सींच आओ।' नौकर बोला, 'मालिक! बाहर मूसलाधार वर्षा हो रही है। पानी सींचने से क्या होगा?' मालिक बोला, 'तुम मूर्ख हो। वर्षा हो रही है तो छाता ले जाओ और पानी सींच आओ।' नौकर अब क्या करे? कहने वाला मालिक इतना भी नहीं सोचता कि मूसलाधार वर्षा हो रही है तो पौधों को पानी देने का अर्थ ही क्या हो सकता है? नौकर इस आदेश को माने तो क्यों?

आदेश देने वाले सभी बहुत समझदार होते हैं और बहुत विवेकपूर्ण आदेश देते हैं, ऐसा आवश्यक नहीं है। अनेक बार ऐसे आदेश दिए जाते हैं कि उन्हें मानने पर बड़ा अनर्थ हो सकता है और न मानने पर मालिक का क्रोध और आवेश तैयार रहता है। उसके परिणाम भी भुगतने पड़ते हैं। आवेश के कारण चिंतन की दिशा विकृत हो जाती है। आदमी किसी को समझ नहीं पाता। पत्नी-पति, भाई-भाई, नौकर-स्वामी के संबंधों में जो दूरी आती है, उसमें आवेश का मुख्य हाथ रहता है। जब आवेश की दीवार बीच में होती है, तब आदमी किसी दूसरे को समझ नहीं पाता, देख नहीं पाता। उसे आवेश ही दिखेगा और सामने वाला व्यक्ति वैसा ही दिखेगा जैसा प्रतिबिंब आवेश के साथ जुड़ चुका है। इसलिए संतुलित चिंतन का मानदंड है—अनावेश अवस्था का अभ्यास। यह कैसे हो सकता है? क्या क्रोध और अहंकार को कम किया

जा सकता है? लोग इस भाषा में नहीं सोचते कि अहंकार को मिटाया जा सकता है या कम किया जा सकता है। वे सोचते हैं कि क्रोध तो स्वभाव है, वह मिटने वाला नहीं है, अहंकार मनुष्य का स्वभाव है, वह कभी मिटने वाला नहीं है। ध्यान का अभ्यासी व्यक्ति सबसे पहले इस मिथ्या धारणा को तोड़ता है। जो इस धारणा को नहीं तोड़ सकता, वह ध्यान का अच्छा अभ्यासी नहीं हो सकता। ध्यान का अभ्यास करने वाले को पहला पाठ पढ़ना होगा कि आदमी बदल सकता है, उसका स्वभाव बदल सकता है। यदि आदमी न बदले, स्वभाव न बदले तो ध्यान को ही बदल देना चाहिए, छोड़ देना चाहिए। फिर ध्यान का कोई प्रयोजन नहीं। ध्यान की सार्थकता तो यही है कि चित्त इतना एकाग्र और निर्मल बन जाए कि उसमें जो बुरे स्वभाव के परमाणु जमे हुए हैं, वे सारे के सारे धुलकर बह जाएँ। चित्त निर्मल हो जाए।

उच्च लक्ष्य के पथ पर

लक्ष्य हमेशा ऊँचा बनाएँ। लक्ष्य और योजना कभी छोटे नहीं होने चाहिए। छोटे लक्ष्य और छोटी योजनाओं से उत्साह नहीं जागता। वे कभी पूर्णता को प्राप्त नहीं होते। बड़ी योजनाएँ और बड़े लक्ष्य पूरे होते हैं, क्योंकि उनके पीछे उत्साह और प्रेरणा का बल होता है। विश्व के प्रख्यात चिंतकों ने भी यही कहा कि ऊपर की ओर चलो, लक्ष्य को बड़ा बनाते चलो। यदि एक मुनि यह सोचता है कि मैं साधु बन गया, सब कुछ हो गया तो वह बड़ी भूल करता है। साधु बनना यदि लक्ष्य है तो साधु-दीक्षा के साथ ही उसकी प्राप्ति हो जाती है। साधना करने या वीतराग बनने की जरूरत ही नहीं है।

एक लक्ष्य

महावीर ने कहा, 'कुछ साधु ऐसे हैं, जो साधु होकर भी अवसाद को प्राप्त होते हैं।' एक मुनि सोचता है कि साधु जीवन बहुत कठिन है। विहार करना, पैदल चलना, सर्दी-गर्मी को सहन करने के अलावा भी अनेक कष्ट हैं। ऐसा सोचने वाला मुनि अवसाद को प्राप्त होता है। प्रश्न है, अवसाद क्यों होता है? महावीर ने इसका कारण बतलाया, 'जो अनात्मप्रज्ञ हैं, जिन्होंने आत्म-प्राप्ति का लक्ष्य नहीं बनाया है, उन्हें विषाद होता है।' साधु का लक्ष्य है आत्मा का उदय। प्रश्न हो सकता है कि श्रावक का लक्ष्य क्या है? श्रावक

का लक्ष्य भी यही है। साधु और श्रावक दोनों का लक्ष्य एक ही है और वह है आत्मोदय। जब तक यह लक्ष्य पूरा नहीं होता, विषाद की स्थितियाँ आती रहती हैं।

पड़ाव नहीं है लक्ष्य

हम इस विषय को गंभीरता से लें। साधु बनना, मुमुक्षु बनना या श्रावक बनना, ये लक्ष्य नहीं है। ये सब पड़ाव हैं, विराम हैं। लक्ष्य है आत्मा की उपलब्धि। एक मुनि भी इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है, एक श्रावक भी इसे सरलता से प्राप्त कर सकता है। एक व्यक्ति साधु बनता है, एकलविहारी बनता है, जिनकल्पी बनता है। ये सारे पड़ाव हैं, जो मंजिल की ओर ले जाते हैं। हम इन पड़ावों को पूरा करते-करते आगे बढ़ते हैं और बढ़ते ही चले जाते हैं, तब मंजिल मिलती है।

महान लक्ष्य है वीतरागता। एक जैन श्रावक प्रतिदिन बोलता है—‘णमो अरहंताणं।’ इसका अर्थ है अर्हत्, वीतराग या केवली होना हमारा लक्ष्य है। महावीर ने कहा, ‘जिसके सामने यह प्रज्ञा होती है, वह अनात्मप्रज्ञ हो जाता है जो आत्मा की प्रज्ञा को भुला देता है वह विषाद को प्राप्त होता है।’ हम इसे दूसरे संदर्भ में देखें। एक व्यक्ति बड़े लक्ष्य के साथ चला। कुछ आवरण हटा, आत्मा की कोई झलक मिल गई। वह आगे चल पड़ा, किन्तु कोई ऐसी काई छा गई, मोह या मूर्च्छा की गहरी काई सामने आ गई। उसे तोड़ना या भेद पाना बहुत कठिन है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक व्यक्ति सोचता है, ‘मैं साधु बनूँ, मोह-माया को छोड़ दूँ।’ उसके मन में यह विचार आता है और वह इस दिशा में चल पड़ता है, किन्तु जब मोह की सघन परत आड़े आती है, तब व्यक्ति लक्ष्य से भटक जाता है। वह उस सघन परत के नीचे दबता चला जाता है। यह स्थिति इसलिए बनती है, क्योंकि उसका पुरुषार्थ मंद हो जाता है।

पुरुषार्थ एवं क्षयोपशम

हमारे क्षयोपशम की स्थिति पुरुषार्थ सापेक्ष है। निरंतर पराक्रम, पुरुषार्थ और वीर्य का प्रयोग चलता रहे, हाथ निरंतर कर्मशील रहें तो आदमी तैरता चला जाता है। जब तक हाथ हिलते रहेंगे। क्षयोपशम काम देगा। हाथ हिलने बंद हो

जाएंगे तो क्षयोपशम भी बंद हो जाएगा। कर्म और चेतना, ये दो तंत्र हैं। एक सक्रिय होता है तो दूसरा निष्क्रिय हो जाता है। दूसरा सक्रिय होता है तो पहला निष्क्रिय बन जाता है। कभी कर्म का प्रभाव सक्रिय हो जाता है और कभी चेतना का प्रभाव सक्रिय होता है। क्षयोपशम की सक्रियता पुरुषार्थ से जुड़ी हुई है।

भाग्य की डोर

महावीर ने कहा, 'व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का विधाता है। व्यक्ति के भाग्य की डोर उसके अपने हाथ में है, लेकिन वह तब है, जब सही अर्थ में पुरुषार्थ सक्रिय रहे।' यदि पुरुषार्थ गलत हो जाए तो अपने दुर्भाग्य का विधाता भी व्यक्ति स्वयं बन जाता है। यदि व्यक्ति पुरुषार्थ न करे, आलसी बन जाए तो सब कुछ खराब हो जाता है। कर्मवाद को मानने वाला इस तथ्य को समझे कि भाग्य का उदय होने वाला है, किन्तु यदि उसके अनुरूप पुरुषार्थ नहीं किया गया तो भाग्योदय कदापि नहीं होगा। हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि आलस्य न हो, गलत पुरुषार्थ न हो एवं सही पुरुषार्थ निरंतर चलता रहे। हाथ पर हाथ रखकर बैठने से पेट नहीं भरता। जो भाग्यवादी हैं, वे निराश होकर बैठ सकते हैं, कर्मवादी कभी निराश होकर नहीं बैठता। उसे अपने पुरुषार्थ पर विश्वास होता है।

आत्मा से जुड़ाव

मूल बात है कि प्रज्ञा आत्मा के साथ जुड़ी हुई है या नहीं? यदि हम आत्मा के साथ जुड़े हुए हैं तो हमारा पुरुषार्थ सही दिशा में होगा। यदि हम आत्मा के साथ नहीं, किन्तु शरीर के साथ जुड़े हुए हैं तो पुरुषार्थ की दिशा सही नहीं रह पाएगी। साधु जीवन या श्रावक जीवन के पुरुषार्थ का सही दिशा में नियोजन नहीं है तो हम अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो पाएँगे। हम शरीर के साथ जुड़े हुए हैं, इसका अर्थ है हम नितांत भौतिकवादी बन गए, नास्तिक बन गए। हम शरीर को पालते हैं, उसे सब कुछ मानकर नहीं चलते। जिस क्षण चेतना का प्रकाश फूटता है, इस सच्चाई का बोध होता है कि शरीर सब कुछ नहीं है। वह यात्रा चलाने का साधन मात्र है।

आत्मप्रज्ञ बनो

हम एक कसौटी को सामने रखें। हम कुछ भी करें तो यह सोचें कि मेरे

इस कार्य से आत्मा का कुछ बिगड़ा है या नहीं? हमारे कार्य को कोई देखता है या नहीं, हमें कोई कुछ कहता है या नहीं? यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना इस कसौटी के सामने बने रहना है। जो इस कसौटी को सामने रखता है, उसे कोई दुःखी नहीं बना सकता। महावीर ने महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया, 'आत्मप्रज्ञ बनो।' जब तक आत्मप्रज्ञ नहीं बनेंगे, विषाद से मुक्ति नहीं मिलेगी। धर्म के क्षेत्र में प्रवेश करने वाला सबसे पहले आत्मा को जाने। जो आत्मवादी हैं, परलोक को मानते हैं, कर्म एवं कर्मफल को मानते हैं, वे आत्मा के साथ जुड़े रहने का दर्शन सहज ही प्राप्त कर सकते हैं।

लक्ष्यपथ का चयन

एक बीमार व्यक्ति से पूछा जाए, 'तुम चिकित्सा करा रहे हो। चिकित्सा का ध्येय क्या है?' उत्तर होगा—स्वास्थ्य लाभ। स्वस्थ रहने के लिए चिकित्सा कराई जाती है, स्वस्थ बनाने के लिए डॉक्टर चिकित्सा करता है।

मनुष्य की चाह है स्वास्थ्य। किन्तु बीमारियाँ कितनी हैं? एक नहीं, अनेक हैं। चिकित्सा के प्रकार भी अनेक हैं। चिकित्सा की कोई ऐसी पद्धति नहीं है, जिसमें सब रोगों की चिकित्सा एक समान विधि से की जा सके। अनेक रोग, चिकित्सा के अनेक विकल्प और अनेक औषधियाँ। ऐसी कोई एक दवा नहीं है, जो सब रोगों के लिए काम आए। इसीलिए चिकित्सा की पद्धति अनेकात्मक है।

अनेकात्मक है ध्यान की पद्धति

ध्यान की पद्धति भी अनेकात्मक है। यदि पूछा जाए कि ध्यान का उद्देश्य क्या है? सीधा उत्तर होगा—आत्मा का दर्शन या आत्मा का स्वास्थ्य। एक है शरीर का स्वास्थ्य, दूसरा है आत्मा का स्वास्थ्य। हमारा ध्येय है आत्मा का स्वास्थ्य। आत्मा स्वस्थ रहे, निरोग रहे, जो रोग हैं वे मिट जाएँ। एक शब्द में यह अंतर संभव है, किन्तु हमें विभक्त करना होगा। एक शब्द से काम नहीं चलेगा। जितने रोग के प्रकार हैं, उतने ही प्रकार औषधियों के होंगे। आसन का एक उपयोग है ध्यान में सहायता करना, तो दूसरा उपयोग है शरीर को स्वस्थ बनाए रखना। आसन का एक पहलू है चिकित्सात्मक और दूसरा पहलू है ध्यानात्मक। जो लोग योग के द्वारा, आसन के द्वारा चिकित्सा करते हैं, उन्होंने

आसनों का अलग-अलग वर्गीकरण किया है। जिसे मधुमेह है, उसे इतने आसनों का कोर्स देना है। जिसे उच्च रक्तचाप है, उसे इतना कोर्स देना है। प्रत्येक बीमारी के लिए आसनों का अलग-अलग वर्गीकरण है। इसी प्रकार ध्यान के विषय में भी हमें वर्गीकरण करना होगा।

आत्मा का स्वास्थ्य

शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक, ये समस्याएँ आत्मा के स्वास्थ्य में बाधक हैं। शारीरिक समस्याएँ आत्मा को भी अस्वस्थ बना देती हैं। एक व्यक्ति ध्यान करना चाहता है, किन्तु शरीर से स्वस्थ नहीं है, वह ध्यान नहीं कर पाएगा। जो व्यक्ति उच्च रक्तचाप से पीड़ित है, वह ध्यान कैसे करेगा? एक व्यक्ति हृदयरोग से पीड़ित है, वह ध्यान की गहराई में कैसे जा सकेगा? शरीर की बहुत सारी बीमारियाँ ध्यान में बाधक बनती हैं। हमें साधना का चुनाव करना होगा, सिर्फ एक प्रयोग से काम नहीं चलेगा। पहले जितनी बाधाएँ हैं, उन्हें निरस्त करेंगे तो हम आत्मा की स्थिति तक पहुँच पाएँगे।

एक में तीन

एक व्यक्ति ने अपने मित्र से कहा, 'मैं ऐसी महिला से शादी करूँगा जो मेरी तीन शर्तें पूरी करे।'

'क्या शर्तें हैं तुम्हारी?'

'बुद्धिमती होनी चाहिए, रूपवती होनी चाहिए और मितभाषिणी होनी चाहिए।'

मित्र बोला, 'बड़े मूर्ख हो तुम! इस महंगाई के जमाने में तीन पत्नियों का भार कैसे वहन करोगे? एक भी महिला तुम्हें ऐसी नहीं मिलेगी, जो बुद्धिमती भी हो, रूपवती भी हो और मितभाषिणी भी हो। इस स्थिति में तीन का खर्च कैसे उठा पाओगे?'

एक से काम नहीं चलता, इसलिए अलग-अलग प्रयोग करने होते हैं। एक ऐसा क्यों नहीं मिलता? इसकी हम मीमांसा करें। आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है कषाय। कषाय के दो रूप हैं—राग और द्वेष। राग ने ममकार और अहंकार का जाल बिछा रखा है। द्वेष ने शत्रुता, अप्रियता और घृणा का जाल

बिछा रखा है। इन सब जालों को तोड़े बिना यदि कोई सीधा राजधानी पर आक्रमण करेगा, तो क्या वहाँ पहुँच पाएगा ?

अगर समझ होती

चाणक्य यात्रा करते-करते एक गाँव में पहुँचा। एक बुढ़िया ढाबा चला रही थी। चाणक्य को भूख लगी। वह भोजन के लिए ढाबे पर आया। बुढ़िया ने खिचड़ी परोसी। चाणक्य ने खिचड़ी के बीच सीधा हाथ डाल दिया। हाथ जल गया। बुढ़िया बोली, 'भाई! तू भी चाणक्य जैसा मूर्ख लगता है।' चाणक्य चकित हो गया। वह बोला, 'माँ! चाणक्य मूर्ख कैसे है ?

बुढ़िया बोली, 'मूर्ख तो है ही। सीधा राजधानी पर आक्रमण करता है, लेकिन आस-पास के जनपदों को जीतता नहीं है। राजधानी में अपार शक्ति और सेना है। वह उसे पछाड़ देती है। अगर उसमें समझ होती तो पहले छोटे जनपदों को जीतता, फिर शक्तिशाली बनकर राजधानी पर आक्रमण करता।'

चाणक्य ने दोनों कान पकड़ लिए। बुढ़िया ने बहुत अच्छी बात बताई। कभी-कभी हम भी ऐसी ही भूल कर जाते हैं। सीधे आत्मा को पकड़ने की बात करते हैं। राजधानी पर विजय पा लेना बहुत अच्छी बात है, गलत नहीं है। हमारा ध्येय खराब नहीं है, लेकिन जो कठिनाइयाँ हैं, उन पर हम विचार करें। राग और द्वेष की कठिनाइयाँ, अहंकार और ममकार की कठिनाइयाँ। जब तक इनसे पार न पाएँ, तब तक सीधे आत्मा की बात कैसे करें! एक आध्यात्मिक व्यक्ति का ध्येय होता है आत्मा की उपलब्धि, आत्मा का स्वास्थ्य। जैसे चिकित्सा का ध्येय है स्वास्थ्य, वैसे ही ध्याता का ध्येय होना चाहिए आत्मिक स्वास्थ्य, आत्मा की अनुभूति या आत्मा का साक्षात्कार।

ध्येय और ध्याता

आचार्य रामसेन ने लिखा—

सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं, ध्येयतां प्रतिपद्यते।
ततोज्ञानस्वरूपोऽयं, आत्मा ध्येयतमः स्मृतः॥

आत्मा हमारा सबसे बड़ा ध्येय है। प्रश्न होता है, वह ध्येयतम क्यों है? सारा विश्व और विश्व के सारे पदार्थ हमारे लिए ज्ञेय हैं। ज्ञान का विषय है ज्ञेय। चेतन और अचेतन सब ज्ञेय हैं। वे ध्येय कब बनेंगे? कोई जानने वाला है तो कोई ज्ञेय बनता है। कोई ध्याता है तो कोई ध्येय बनता है। पदार्थ तो पदार्थ है। जीव का अपना अस्तित्व है, पदार्थ का अपना अस्तित्व है। पदार्थ स्वयं ज्ञेय नहीं बनता। कोई जानने वाला होता है, ज्ञाता होता है तो वह ज्ञेय बनता है। कोई पदार्थ पर ध्यान करने वाला होता है तो कोई पदार्थ ध्येय बनता है। आत्मा के होने पर पदार्थ ज्ञेय है और आत्मा के होने पर पदार्थ ध्येय है। आत्मा नहीं है तो कोई पदार्थ न ज्ञेय बनता है, न ध्येय। ज्ञेय और ध्येय, दोनों आत्मा के साथ जुड़े हैं। इसलिए जो ज्ञाता है, ज्ञान-स्वरूप है, वह हमारा ध्येय होगा। ध्येय का आदि बिंदु है आत्मा, किन्तु ध्येय तक पहुँचने के लिए ध्येय और ध्याता के बीच की दूरी को पाटना होगा।

लम्बी यात्रा

ध्यान करने वाला ध्याता है और आत्मा ध्येय है। इन दोनों के बीच काफी दूरी है। ध्येय तक पहुँचने के लिए, उस दूरी को पाटने के लिए हमें बहुत लम्बी यात्रा करनी पड़ेगी, अनेक साधनाओं से गुजरना होगा। आज की चिकित्सा कितनी लम्बी हो गई है? बीमार हॉस्पिटल में जाता है। उसे सबसे पहले कहा जाता है—डायनोमेस्टिक टेस्ट होना चाहिए। कम्पाउंडर नब्ज देखता है, ब्लड लेता है, उसकी जाँच होती है। वह ई.सी.जी. कराता है, ई.ई.जी. कराता है। जाने कितने यंत्रों से उसे गुजरना पड़ता है। एक आदमी पूरे टेस्ट कराता है, तो इतना बड़ा बिल सामने आता है कि उसे देखकर ही वह घबरा जाता है। पूरी जाँच की पद्धति से गुजरने के बाद डॉक्टर दवा देगा। दवा की तालिका इतनी बड़ी होती है कि सामान्य व्यक्ति के लिए उसका बिल चुकाना भी मुश्किल हो जाता है।

जरूरी है जाँच

डॉक्टर ने रोगी से पूछा, 'कहो, कैसे हो?'

'वैसे ही चल रहा है।'

'क्या दवा से ठीक नहीं हुए?'

‘ठीक तो हो गया।’

‘फिर क्या हुआ?’

‘पहले तो मैं आपकी दवा से ठीक हुआ था, किन्तु जब आपका और दवा का बिल देखा, तब फिर बीमार हो गया।’

चिकित्सा के लिए बहुत लम्बी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। बहुत सारी समस्याएँ और बाधाएँ होती हैं। ठीक यही स्थिति ध्याता की होती है। ध्यान करने वाला व्यक्ति आत्मा तक पहुँचना चाहता है, पर यह संभव नहीं है कि वह सीधा वहाँ पहुँच जाए। पहले काफी जाँच करानी होती है। शरीर, मन और भावना की जाँच करानी होती है, जिसमें काफी समस्याएँ भी आती हैं।

वह ध्यान कैसे करेगा ?

एक भाई ने अपनी समस्या रखी—‘मुझे निषेधात्मक विचार बहुत आते हैं। दिन में भी बुरे विचार आते हैं। किसी को देखता हूँ तो बुरा विचार आता है। किसी को कुछ देता हूँ तो विचार आता है कि कहीं धोखा न हो जाए। रात-दिन नकारात्मक विचार आते रहते हैं। इससे कैसे छुटकारा मिले? व्यक्ति सम्पन्न था, कोई कमी नहीं थी, पर यह मानसिक समस्या उसके लिए बहुत बड़ा जंजाल बन गई। जिसके सामने निषेधात्मक विचारों की समस्या है, वह ध्यान करके कैसे आत्मा तक पहुँचेगा? जो व्यक्ति अवसादग्रस्त है, वह आत्मा का ध्यान कैसे करेगा? मन की पचासों समस्याएँ हैं। वह आत्मा का ध्यान कैसे करेगा ?

ध्येय के प्रकार

आत्मा तक पहुँचने के लिए, ध्येय को पाने के लिए, शारीरिक समस्याओं पर विजय पाना भी जरूरी है, मानसिक समस्याओं से निपटना भी जरूरी है। जितनी समस्याएँ हैं, उतने प्रयोग हैं। इस प्रकार ध्येय अनेक बन जाते हैं। एक है मुख्य ध्येय, दूसरे हैं प्रासंगिक और गौण ध्येय। मुख्य और गौण, दोनों के बिना कभी काम नहीं चलता। एक व्यक्ति ने मुम्बई से लाडनू के लिए प्रस्थान किया। उसका मुख्य ध्येय है मुम्बई से लाडनू पहुँचना, किन्तु बीच में गौण ध्येय और भी हो सकते हैं। जयपुर में किसी मित्र से मुलाकात करना, मिठाई खरीदना, ये सारे गौण ध्येय हैं। ध्यान के संदर्भ में एक गौण है शारीरिक

स्वास्थ्य। ध्यान का एक पहलू है चिकित्सात्मक। बहुत सारे लोग प्रेक्षाध्यान के शिविरों में केवल आध्यात्मिक या आत्मोपलब्धि की भावना से नहीं आते। वे इस भावना से भी आते हैं कि शरीर स्वस्थ बन जाए। इतना विवेक अवश्य जागना चाहिए कि ध्यान आत्मशुद्धि अथवा आत्मा की उपलब्धि के लिए है। शारीरिक स्वास्थ्य उसका प्रासंगिक फल है। जो व्यक्ति ध्यान करेगा, वह स्वस्थ तो होगा ही, किन्तु शारीरिक स्वास्थ्य को मुख्य न बनाएँ। मुख्य बनाएँ निर्जरा को, संस्कार की शुद्धि को। इससे काम भी हो जाएगा और निर्मलता भी बढ़ेगी।

साक्षात्कार के सरल सूत्र

आचार्य भिक्षु ने कहा, 'व्यक्ति खेती करता है, बाजरा बोता है, चावल बोता है। वह आज के लिए खेती करता है, साथ में पलाल, तूड़ी और भूसा भी होता है। वह प्रासंगिक फल है। प्रासंगिक फल अपने आप मिलेगा। हम ध्येय बनाएँ निर्जरा को। कल्पना करें—एक व्यक्ति को मधुमेह की बीमारी है। बीमार को आसन सिखाए जाते हैं। वह आसनों का प्रयोग करे, किन्तु साथ में यह जोड़ दे कि मैं निर्जरा के लिए आसन करूँगा। आसन निर्जरा का ही एक प्रकार है। वह निर्जरा के लिए आसन करेगा तो साथ-साथ शरीर भी स्वस्थ होगा और दृष्टिकोण उदात्त बन जाएगा। निर्जरा मुख्य है और शारीरिक स्वास्थ्य प्रासंगिक, किन्तु वह प्रासंगिक होते हुए भी उपेक्षणीय नहीं है। उसकी उपेक्षा कर हम आत्मा तक पहुँचने की बात ही नहीं कर सकते। महावीर की भाषा में ध्यान का अधिकारी वह है, जो उत्तम संहनन अर्थात् शारीरिक संस्थान-वज्रऋषभनाराच संहनन वाला है। जो व्यक्ति इस संहनन से सम्पन्न है, वह शुक्लध्यान तक पहुँच सकता है। जो शुक्लध्यान तक नहीं पहुँचा, वह आत्मध्यान तक भी नहीं पहुँच सकता। आज तक जितने भी केवली हुए हैं, जिन्होंने आत्मा का साक्षात् अनुभव किया है। जो घातिकर्म से मुक्त हुए हैं, वे ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिनके शरीर का संहनन वज्रऋषभनाराच था। उससे कमजोर संहनन वाला वहाँ जा ही नहीं सकता। एक व्यक्ति शुक्लध्यान करना चाहता है, आत्मा की गहराइयों में जाना चाहता है, विशिष्ट शक्तियों का अवतरण करना चाहता है और उसका शरीर उन्हें झेलने में सक्षम नहीं है, तो क्या होगा? वह उन्हें नहीं सह पाएगा। ध्यान करने वाले अनेक बार कहते हैं—सिर में दर्द है,

ध्यान नहीं हो सकता। शरीर में पीड़ा है, अब ध्यान नहीं किया जा सकता।

शारीरिक स्वास्थ्य ध्यान में सहायक बनता है, कारक बनता है। हम आसन, प्राणायाम करेंगे, शरीर की निर्मलता बढ़ेगी, शरीर की क्षमता बढ़ेगी, ऊष्मा-ऊर्जा को सहन करने की क्षमता बढ़ेगी। इन सबका विकास होगा, तो ही ध्यान सधेगा। अन्यथा ध्यान की सिद्धि संभव नहीं होगी। दूसरा ध्येय है—मानसिक स्वास्थ्य। अवसाद आदि जो समस्याएँ हैं, उनसे मुक्ति पाए बिना आत्मानुभूति की बात कहीं रह जाती है। हम लोग भावना में बह जाते हैं। यदि यथार्थ की भूमिका पर आएँ तो हमें काफी गहराई में जाना होगा। आत्मानुभूति या आत्मा का ध्यान कब हो सकता है? आत्मानुभूति का अर्थ क्या है?

राग-द्वेष से मुक्त क्षण की उपलब्धि है आत्मानुभूति। यह ज्ञान आत्मा का साक्षात्कार कराता है। जिस ज्ञान के साथ न रोग है और न द्वेष। यह सूत्र बहुत सीधा है। इसका अर्थ भी सीधा है, किन्तु इसकी यात्रा बहुत लम्बी है। ऐसे क्षणों में जीना सामान्य बात नहीं है।

संभव है साक्षात्कार

‘आत्म साक्षात्कार प्रेक्षाध्यान के द्वारा’ यह प्रेक्षा गीत का ध्रुवपद है। आत्मा का साक्षात्कार बहुत कठिन लगता है, पर असंभव नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि आत्मा तो अमूर्त है। इंद्रियाँ एवं मन मूर्त को जानते हैं, साक्षात्कार कैसे संभव होगा? हमारे पास जानने के जो साधन हैं, वे न मूर्त को जानने वाले हैं, न अमूर्त को। इन चर्मचक्षुओं से मूर्त परमाणु का साक्षात्कार नहीं हो सकता। सूक्ष्म स्कंध का भी नहीं हो सकता। अनंत प्रदेशी स्कंध हैं, अनंत परमाणु एकत्रित हुए हैं, किन्तु परिणति सूक्ष्म है। हम इन आँखों से उन्हें नहीं देख पाते। हम इंद्रियों और मन से बहुत कम चीजों को जानते हैं। यह कहा जा सकता है कि विश्व का नब्बे प्रतिशत भाग हमारे लिए अदृश्य और अगम्य है। दस प्रतिशत भाग मुश्किल से गम्य बनता है। इस स्थिति में जो अमूर्त है, सूक्ष्म है, क्रियातीत, मनोनीत और बुद्धि से परे है, उसका साक्षात्कार कैसे संभव है? इस विषय में अनेक आचार्यों ने चिंतन किया और एक रास्ता खोजा। उन्होंने कहा—‘आत्मा का साक्षात्कार न हो तो ध्यान करने वाला निराश हो जाएगा।’

चार तत्त्व

ध्यान करने वाले व्यक्ति को चार तत्त्वों पर पहले निर्णय करना होता है—१. लक्ष्य, २. शक्यता, ३. दृष्ट फल, ४. अदृष्ट फल। ध्यान का लक्ष्य क्या है? लक्ष्य बहुत बड़ा है, फिर अपनी शक्ति को देखें और विचार करें कि मेरे पास कितने साधन हैं? लक्ष्य के अनुरूप शक्यता का बोध होना, यह दूसरा तत्त्व है। तीसरा तत्त्व है दृष्ट फल। ध्यान का एक फल ऐसा होता है, जो तत्काल सामने आ जाता है। कायोत्सर्ग का प्रयोग किया, तनाव कम हो गया। श्वास प्रेक्षा का प्रयोग किया, भारीपन कम हो गया। यह इष्ट फल है। चौथा तत्त्व है अदृष्ट फल। व्यक्ति ध्यान करता चला गया, पर फल का अनुभव नहीं हुआ, आत्मा का दर्शन नहीं हुआ, पता नहीं कब होगा? यह अदृष्ट फल है।

वेद्य और वेदक

प्रश्न है, क्या आत्मा के दर्शन की हमारे भीतर शक्यता है? चिंतन किया गया तो उत्तर मिला कि शक्यता है। हम आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं। साक्षात्कार की अनेक कोटियाँ बन जाती हैं। साक्षात्कार का एक हेतु है वेद्य और वेदकभाव। वेदक वह है, जो अनुभव करने वाला है। वेद्य वह है, जिनका अनुभव किया जाए। आत्मा ज्ञाता है, वह दूसरे का वेदन करता है। वस्तु वेद्य बन जाती है। जब आत्मा स्वयं पर ध्यान केन्द्रित करता है, अनुभव को जानना चाहता है, तब वहाँ वही वेदक और वही वेद्य बन जाता है, वही ज्ञाता और वही ज्ञेय बन जाता है, वही ध्याता और वही ध्येय बन जाता है। वेद्य और वेदक, ज्ञाता और ज्ञेय, ध्याता और ध्येय, दोनों एक ही बन जाते हैं। वेद्य और वेदक के बीच कोई दूरी नहीं होती है। जब इस स्थिति का निर्माण हो जाता है, तब आत्म-साक्षात्कार की भूमिका हमारे सामने आती है।

वेद्यत्वं वेदकत्वं च, यत् स्वस्त स्वेन योगिनः।

तत् स्वसंवेदनं प्राहुः आत्मनोऽनुभवं दृशाम्।।

साक्षात्कार का उपाय

यह आत्म-साक्षात्कार कब होता है? इसका उपाय खोजा गया। उपाय के बिना कोई सिद्धि नहीं होती। कहा गया है—

उभयेस्मिन् निरुद्धे तु, स्याद् विष्टपमतीन्द्रियम् ।
स्वसंवेद्यं हि तद् रूपं, स्वसंवित्चैव दृश्यताम् ॥

इंद्रियों को रोको और मन को रोको। जब दोनों का निरोध होगा, तब उस अवस्था में आत्मा का जो रूप है, वह प्रकट होगा। आत्मा का द्वार बंद है और मन का द्वार खुला है, तब आत्मा का बोध नहीं हो सकता, साक्षात्कार नहीं हो सकता। जब इंद्रिय और मन का संवर होता है, उस अवस्था में अतीन्द्रिय तत्त्व कुछ स्पष्ट होना शुरू होता है। जब इंद्रिय राज्य की सीमा समाप्त होती है, तब अतीन्द्रिय राज्य की सीमा में प्रवेश मिलता है।

मनोविज्ञान की भाषा है कि जब चेतन मन काम करता है, तब अचेतन मन सोया रहता है और जब चेतन मन सो जाता है, तब अचेतन मन भीतर से जागना शुरू करता है। आत्मा छोटे की सीमा में आना नहीं चाहती। शायद यही कारण है कि देवता मनुष्य की सीमा में आना कम पसंद करते हैं। देवता छोटे की सीमा में कैसे आएगा? मन का राज्य है छोटा और अतीन्द्रिय चेतना का राज्य है बड़ा। बड़ा राज्य छोटे राज्य में कैसे आएगा?

बड़ा कौन ?

एक राजा के मन में अपनी सत्ता को देखकर अहं जाग गया। उसके मन में प्रश्न उभरा कि इंद्र स्वर्ग का राजा होता है, पर क्या मेरे सामने वह टिक पाएगा? राजा ने अपने सभासदों से पूछा, 'बोलो, मैं बड़ा या इंद्र?' राजा के सामने सभासद क्या कहते? सबने एक स्वर में कह दिया, 'राजा साहब! आप ही सबसे बड़े हैं। कहाँ आप और कहाँ इंद्र, दोनों का कोई मुकाबला ही नहीं है।'

मैं बड़ा कैसे हूँ? इंद्र छोटा कैसे है? इसका फैसला कैसे किया जाए? राजा को इस प्रश्न का समाधान नहीं मिला। राजा ने घोषणा करवा दी कि जो नागरिक इस प्रश्न का समाधान कर देगा, उसे आधा राज्य दे दूँगा। राजा भी बड़ा दिलदार था। उत्तर देने के लिए बहुत सारे लोग आए। आधा राज्य मिले तो किसका मन नहीं ललचाए!

एक युवक ने कहा, 'महाराज, मैं आपके प्रश्न का उत्तर दे सकता हूँ।'

'बोलो! कौन बड़ा है, मैं या इंद्र?'

'राजन्! आप बड़े हैं, इंद्र छोटा है।'

'इसका हेतु क्या है?'

'महाराज, एक दिन ऐसा हुआ कि विधाता आपका भाग्य लिख रहा था। उस समय इंद्र भी सामने आ गया। विधाता ने देखा कि यह भी तो अच्छा है। उसके मन में विकल्प उठा कि अब राजा किसे बनाऊँ? इसे बनाऊँ या उसे बनाऊँ? तब विधाता ने निर्णय लिया कि न्याय करना चाहिए। वह एक तराजू उठा लाया। एक पल्ले में आपको बैठा दिया और दूसरे पल्ले में इंद्र को बैठा दिया। इंद्र हल्का था, इसलिए वह ऊपर चला गया। आप भारी थे, इसलिए नीचे रह गए। ऊपर का राज्य इंद्र को दे दिया गया और नीचे का राज्य आपको मिल गया। आप भारी हैं, इसलिए आप बड़े हैं।'

राजा को यह समाधान पसंद आ गया और युवक को आधा राज्य मिल गया।

स्वसंवेदन

महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि कौन-सा राज्य छोटा है और कौन-सा बड़ा है। मन का राज्य छोटा है। वह नीचे रहता है। अतीन्द्रिय का राज्य बड़ा है, वह सूक्ष्म में चला गया, ऊपर चला गया। उसके लिए इंद्रिय और मन के राज्य की सीमा को पार करना पड़ता है। इसके बिना अतीन्द्रिय तक नहीं पहुँचा जा सकता। जो आत्म-साक्षात्कार करने की भावना रखता है, उसे सबसे पहले इंद्रिय और मन का संवर करना होगा। जब इंद्रिय और मन की चंचलता समाप्त होती है, तब अतीन्द्रिय बोध शुरू होता है और उसका नाम है—संवेदन।

योग अथवा ध्यान में तीन शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—आत्मानुभव, आत्मानुभूति या आत्मदर्शन। तीनों का तात्पर्य है स्वसंवेदन। हमारा एक

संवेदन पदार्थ से जुड़ा हुआ होता है। किसी वस्तु को जानते हैं तो हमारा संवेदन इंद्रिय के साथ जुड़ा रहता है। हमारा ज्ञान वस्तु को जानने में व्याप्त रहता है। मन किसी विषय का चिंतन करता है, स्मृति अथवा कल्पना करता है, तो मन का संवेदन पदार्थ के साथ जुड़ा रहता है।

इंद्रिय और मन का निरोध

बाह्य जगत में सारा व्यापार इंद्रिय और मन के माध्यम से होता है। पहला स्रोत बनता है इंद्रिय और दूसरा स्रोत बनता है मन। जब इंद्रिय और मन दोनों का निरोध हो जाता है, उस अवस्था में अतीन्द्रिय प्रकट होता है। वह है हमारी स्वसंवेदन की अवस्था। इसी का नाम है—आत्मा का साक्षात्कार।

कोई भी व्यक्ति ध्यान के आधार पर, श्रुत ज्ञान के आधार पर, तत्त्व चर्चा के आधार पर, आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता, स्वसंवेदन की भूमिका तक नहीं जा सकता। स्वसंवेदन की भूमिका में वही व्यक्ति पहुँच पाएगा, जिसने इंद्रियों और मन का निरोध करना सीख लिया है। ध्यान का सारा उपक्रम इसलिए है कि इंद्रियों की चंचलता कम हो, हमारी एकाग्रता बढ़े। उसके लिए दीर्घकालीन साधना आवश्यक है। उस अवस्था में अज्ञात भी ज्ञात हो जाएगा।

शक्ति का संचार

ध्यान के विषय में सारे दार्शनिकों के मत एक नहीं हैं। एक का मत है कि जहाँ मन नहीं है, इंद्रियों का व्यापार नहीं है, वहाँ उस अवस्था में अभाव की स्थिति बन जाती है। साक्षात्कार में यह बात संभव नहीं है। दर्शन में कुछ अभाव तो मानते हैं, किन्तु जहाँ ज्ञान का अभाव है, वहाँ ध्यान नहीं होगा, जड़ता हो जाएगी। ज्ञान का अभाव है जड़ता, किन्तु ध्यान होने का मतलब है स्वसंवेदन का जागना। यह जड़ता नहीं है। यह इंद्रिय तथा मन का अभाव जड़ता नहीं है, विशेष शक्ति का जागरण एवं संचार है। मन का निरोध जैन साधना की प्रक्रिया में संभव है, पतंजलि की साधना में संभव है, किन्तु बौद्ध परम्परा में संभव नहीं है। इसका कारण है कि जैन दर्शन आत्मा को मानता है, चित्त को स्वीकार करता है। चित्त आत्मा की एक रश्मि है। मन न आत्मा है, न चित्त है। बौद्ध दर्शन में मन ही सब कुछ है, तो निरोध किसका करेंगे! मन का निरोध करने पर कुछ नहीं बचेगा।

अमन की अवस्था

जैन की परिभाषा में मन का अर्थ है मनोवर्गणा। जीव के द्वारा मनोवर्गणा के आधार पर जब मनन किया जाता है, तब मन का निर्माण होता है। मन कोई स्थायी तत्त्व नहीं है। आत्मा स्थायी तत्त्व है। मन उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है। हम इस स्थिति में चले जाएँ, मन को समाप्त कर दें, मन को उत्पन्न न होने दें। यह हमारी अमन की अवस्था है। अमन की अवस्था अतीन्द्रिय ज्ञान के प्रकट होने की अवस्था है। बौद्ध दर्शन में यह संभव नहीं है। वहाँ सारी धारणा ही मन के साथ जुड़ी हुई है। आत्मा नाम का कोई तत्त्व नहीं है।

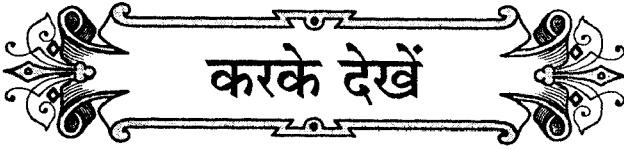
अमन होगा, मन को समाप्त कर देना, यह स्वसंवेदन की, आत्म साक्षात्कार की भूमिका है। इस भूमिका में पहुँचकर व्यक्ति अनुभव कर सकता है कि आत्म-साक्षात्कार हो रहा है। जब इंद्रिय का ज्ञान नहीं है, मन का ज्ञान नहीं है, उस स्थिति में केवल दो ही बातें हो सकती हैं। ज्ञान समाप्त हो गया अथवा मन चेतन से अचेतन बन गया। इंद्रिय और मन के अभाव में भी अनुभव होता है और वह अनुभव स्वसंवेदन के क्षण में पैदा होता है।

अस्तित्व का अनुभव

एक व्यक्ति ने पूछा, 'क्या बुद्धि और अनुभव एक हैं?' मैंने कहा, 'दोनों अलग-अलग हैं। बुद्धि अलग है, अनुभव अलग है।' बुद्धि का काम है निर्णय करना, विवेक करना। वह हमारी निर्णयात्मक चेतना है। एक है संवेदनात्मक चेतना, जहाँ न कोई निर्णय होता है, न कोई विवेक होता है। वहाँ केवल अपने अस्तित्व का अनुभव होता है, 'मैं हूँ' और 'मैं ज्ञानमय हूँ' इस अवस्था का अनुभव होता है। यह स्वसंवेदन आत्म-साक्षात्कार है, जहाँ मूर्त को जानने वाले ज्ञान से छुटकारा पा लिया, वहाँ अमूर्त भीतर से झलकने लग जाता है, उसका भान होने लग जाता है। यह स्पष्ट बोध होने लग जाता है कि मैं स्वयं को जान रहा हूँ, किसी दूसरे को नहीं जान रहा हूँ। केवल अपना ही ज्ञान भीतर सक्रिय हो रहा है। यह एक विचित्र अनुभव का क्षण है।

स्वर्णिम सूत्र

तुम क्या बनना चाहते हो? लक्ष्य का निर्धारण करो।
लक्ष्य के अनुरूप प्रयोग करो। सफलता अवश्य मिलेगी।



● **समवृत्ति श्वास प्रेक्षा-संतुलन के लिए**

बाएं नथुने से धीरे-धीरे लम्बा श्वास लें, कुछ क्षणों के लिए श्वास को भीतर रोके और फिर दाएं से धीरे-धीरे निकालें, और श्वास को बाहर रोके फिर दाएं से लें, भीतर रोके फिर बाएं नथुने से निकाले और बाहर रोके। श्वास रोकने में जबरदस्ती बिल्कुल न करें। श्वास के प्रति पूर्ण जागरूक रहें। प्रत्येक आवृत्ति में चार बार श्वास संयम होता है। प्रतिदिन ९ आवृत्ति करें।

● **मंत्र का प्रयोग**

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं अरिष्टनेमिनाथाय नमः

प्रतिदिन एक माला करें।

परिणाम-दुःख का नाश होता है।

● **आसन-प्राणायाम**

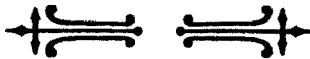
ब्रह्म मुद्रा में पद्मासन-दाएं पैर को घुटने से मोड़कर बायीं साथल पर रखें। एड़ी नाभि के पास के हिस्से को स्पर्श करें। बाएं पैर के पंजे को हाथ से उठाकर दाहिनी साथल पर स्थापित करें। एड़ी से नाभि के पास के हिस्से को स्पर्श करें। हाथों को ब्रह्म-मुद्रा में नाभि के पास स्थापित करें। बायीं हथेली नाभि के पास नीचे रहे, उस पर दाहिनी हथेली रहे। दोनों अंगूठे एक दूसरे को स्पर्श करें अंगुलियां सीधी रहे। प्रथम बार में इस आसन का प्रयोग पांच मिनट तक करें। सुविधा के अनुसार प्रतिदिन एक मिनट बढ़ा सकते हैं।

लाभ-स्व-संवेदन की शक्ति का विकास।

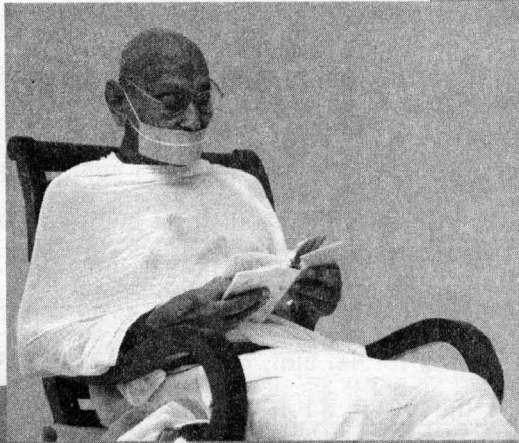
अध्याय कहता है

जो स्वावलम्बी होता है—

- वह किसी का शोषण नहीं करता है।
- वह श्रम की चेतना का विकास करता है।
- वह दुःख में सुख की खोज करता है।
- वह मूर्च्छा को कम करने का प्रयास करता है।
- वह ठंडे दिमाग से चिन्तन करता है।
- वह हमेशा ऊंचा लक्ष्य बनाता है।
- वह भाग्य के भरोसे नहीं रहता है।
- वह स्व-संवेदन की भूमिका तक पहुंचाने वाले मार्ग पर अपने चरणों को गतिशील करता है।



“ बुद्धि और श्रम का असंतुलन एक समस्या बना हुआ है। यह बड़ी समस्या है। इस असंतुलन ने समाज की प्रकृति को विकृति बना दिया। प्रकृति में विकृति होती है तो सारी समस्याएं पैदा होती हैं। ”



अध्याय

६

समाज में हरामजादा कोई भी नहीं होता, किन्तु जब समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग अमीरजादा, शाहजादा और नवाबजादा बनकर बैठ जाता है, तब हरामजादों को जन्म लेना ही पड़ता है। इसके अलावा और कोई उपाय शेष नहीं रह जाता है। यह समाज की प्रकृति का विकृत स्वरूप है।

व्य

व्यक्ति अकेला होता, यदि उपयोगिता नहीं होती। उपयोगिता ने व्यक्ति को बाँधा और समाज बन गया। व्यक्ति अकेला होता, यदि योग नहीं होता। व्यक्ति जुड़ता है। उसमें योग की क्षमता है, जुड़ने की क्षमता है, संबंध की क्षमता है। इस संबंध की क्षमता से व्यक्ति ने समाज का निर्माण किया। योग और उपयोगिता, ये दोनों परस्परालंबन के आधार बन गए। तीसरा आधार बना प्रभाव। यदि किसी का किसी पर भी प्रभाव नहीं होता, तो समाज नहीं बनता। उपयोगिता, प्रभाव और योग, ये तीन आधार हैं। समाज की रचना से व्यक्ति अकेला नहीं रहा। उपयोगिता बहुत है, क्योंकि अपेक्षाएँ बहुत हैं। खाने को चाहिए, पीने को चाहिए, रहने को मकान चाहिए, कपड़ा चाहिए और भी न जाने क्या-क्या चाहिए। बहुत सारी अपेक्षाएँ हैं। अकेला व्यक्ति कभी इन सारी अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर

सकता। उपयोगिता और अपेक्षा जुड़ी हुई हैं। स्वावलंबन की चर्चा मैंने की थी। वैयक्तिकता का एक लक्षण है स्वावलंबन, किन्तु सही अर्थ में, थोड़े गहरे में उतरकर देखा जाए तो स्वावलंबी शब्द भी सापेक्ष ही है। एक अपेक्षा से ही आदमी स्वावलंबी होता है। पूरी अपेक्षा की जहाँ बात है, वहाँ कोई आदमी स्वावलंबी नहीं हो सकता। वहाँ सूत्र बनता है—परस्परावलंबन। इसका अर्थ है, 'एक-दूसरे को एक-दूसरे का आलंबन। एक-दूसरे का सहारा बनना।' परस्परावलंबन के आधार पर समाज का निर्माण होता है। एक आदमी खेती करता है, दूसरा व्यापार, तीसरा औजार बनाता है, चौथा खेती के साधनों का निर्माण करता है। इन सबका योग होता है और अनाज बाजार में आ जाता है। किसान खेती करने वाला है, लेकिन बिना औजार और ट्रैक्टर के कहाँ से होगी खेती? नहीं हो सकेगी। किसान को औजार चाहिए, उपकरण चाहिए। उपकरण कहाँ से आएगा? एक कारीगर हल भी बना लेता है, ट्रैक्टर भी बना लेता है। यदि लोहा नहीं है, काठ नहीं है, तो कहाँ से होगा निर्माण! इसके लिए खदान, मजदूर, लोहा और अनेक उपकरणों की आवश्यकता होती है। इतना सब कुछ आपस में जुड़ा हुआ है। परस्परावलंबन में इन सबका योग है। सब जुड़े हुए हैं। एक व्यक्ति अलग-सा लगता है। चलता है तो ऐसा लगता है कि वह अकेला नहीं चल रहा, उसके साथ सैकड़ों लोग चल रहे हैं। अकेला कहाँ चल रहा है? पत्नी रोटी न परोसे, तो पति को पता चले कि कैसे चला जाता है। हाथ-पैर टंडे पड़ जाते हैं। घुटने टिक जाते हैं। चक्कर आने लगते हैं। चलने की शक्ति नष्ट हो जाती है। एक आदमी चल रहा है, तो उसके साथ-साथ रोटी भी चल रही है। रोटी चल रही है, तो साथ-साथ व्यापार भी चल रहा है। किसान भी चल रहा है। केवल अकेला चलेगा तो वह चल नहीं सकेगा, स्थिर हो जाएगा। वह गतिमान नहीं हो सकता। हमारी गति के साथ न जाने कितने लोगों का योग है, कितने जुड़े हुए हैं। हम जब योग की बात को भुला देते हैं, इस जुड़ाव को भूल जाते हैं, तब अकेलेपन की बात सोचते हैं, व्यक्तिगत बात सोचते हैं। जैसे ही हम दूसरे कोण की ओर मुड़ते हैं और ध्यान देते हैं कि योग के बिना, इस जुड़ाव के बिना कोई भी आदमी कुछ भी नहीं कर सकता, तब समाज की प्रतिमा हमारे सामने उपस्थित हो जाती है। एक प्रयत्न के साथ सैकड़ों प्रयत्न स्पष्ट उभर आते हैं। सबका योग मिलता है, तब पूरा काम बनता है।

यह योग या संबंध इतना सूक्ष्म है कि पता ही नहीं चलता। स्थूल दर्शन

में कुछ पता नहीं चलता, किन्तु सूक्ष्म दर्शन में हर चरण पर उस संबंध का आभास होता है। एक आदमी दूसरे के घर जा रहा है। वह गति कर रहा है, चल रहा है, क्योंकि संबंध जुड़ा हुआ है। वह उससे जुड़ा हुआ है, इसलिए जा रहा है। अपने मित्र के घर जाता है, संबंधी के घर जाता है, जिसके साथ जिसका संबंध जुड़ा है, वह उसके पास जाता है। संबंध की प्रेरणा उसे वहाँ ले जाती है। जहाँ उपयोगिता है, वहाँ आदमी चला जाता है।

योग, उपयोग और प्रभाव, इन तीन सूत्रों के आधार पर परस्परवलंबन की बात समझ में आती है। कोई भी व्यक्ति परस्परवलंबन के बिना अपनी जीवनयात्रा नहीं चला सकता और इस दुनिया में अपने अस्तित्व को कायम नहीं रख सकता। दूसरी मंजिल पहली मंजिल पर टिकी हुई है और पहली मंजिल नींव पर टिकी हुई है। नींव भूमि पर टिकी हुई है। यदि भूमि नहीं तो नींव नहीं टिकेगी। अधर में कुछ भी नहीं है, सब आधार पर टिका हुआ है। जो अधर में है, वह सूक्ष्म जगत है, हमारे व्यवहार का जगत नहीं है। व्यवहार का पूरा जगत आधार पर टिका हुआ है। इसलिए हर बात में आधार खोजा जाता है। समाज एक आधार पर चल रहा है। जहाँ परस्परवलंबन की विस्मृति होती है, वहाँ सामाजिक जीवन में समस्याएँ पैदा होती हैं। वर्तमान की समस्याओं का विश्लेषण किया जाए तो पता चलेगा कि गरीबी की समस्या उतनी भयंकर नहीं है, जितनी परस्परवलंबन की समस्या है। आदमी सामाजिक जीवन जी रहा है, किन्तु वह परस्परवलंबन का अंकन नहीं कर रहा है।

नींव के पत्थर

दिल्ली को देखते ही लगता है कि यह भव्य नगर है। इस बार जो शिविर का स्थान मिला, वह दो होटलों के बीच में है। इधर होटल है, उधर होटल है, इन होटलों के बीच रहकर शिविर में रहने का मन नहीं करता। मन सीधा होटलों की ओर जाता है, इसलिए मैं शिविर में नहीं आया। इतने बड़े और इतने बढ़िया होटल, उनमें रहने वाले बड़े लोग! बड़े-बड़े भवनों में रहने वाले बड़े और धनी लोग उन लोगों को भूल जाते हैं, जो इन बड़े भवनों का निर्माण करते हैं। परस्परवलंबन का सिद्धान्त था कि सहारा लो और सहारा दो। विनिमय करो सहारे का, आलंबन का। परस्पर आलंबन होता, सहारे की स्मृति होती, तो यह समस्या पैदा नहीं होती। अतीत और वर्तमान में एक समस्या रही है—परस्परवलंबन की। समाज की प्रकृति है परस्परवलंबन। जब उस

प्रकृति की ही विस्मृति कर देते हैं, उस सीमा का अतिक्रमण कर देते हैं, फिर समस्या पैदा क्यों नहीं होगी ? बड़ा आश्चर्य होता है कि जिसने निर्माण किया और जिसका निर्माण में अधिकतम योग रहा, उसे भुला दिया जाता है।

हर वस्तु के निर्माण में दो बातें होती हैं—एक बुद्धि या शिल्प और दूसरी श्रम। पता नहीं क्यों बुद्धि को अतिरिक्त मूल्य दे दिया गया और श्रम को जितना देना चाहिए, उतना भी नहीं दिया गया। बुद्धि और श्रम का असंतुलन ही एक समस्या बना हुआ है। यह बहुत बड़ी समस्या है। जब तक संतुलन नहीं होता, तब तक बात नहीं बनती। एक बुद्धिमान आदमी कुछ श्रम किए बिना दिन में एक लाख का भी अर्जन कर लेता है, ज्यादा भी कर लेता है और उसी बुद्धि में योग देनेवाला श्रमिक है, उस बेचारे को लाख-हजार-करोड़ की बात का तो सपना आता होगा, पर वह जीवन की पर्याप्त आवश्यकताओं को भी पूरी नहीं कर पाता। इस असंतुलन ने समाज की प्रकृति को विकृति बना दिया। प्रकृति में विकृति होती है तो सारी समस्याएँ पैदा होती हैं।

एक आदमी चला जा रहा था। जंगल में से गुजर रहा था। प्यास लग गई। इधर-उधर कहीं पानी नहीं मिला। प्यास गहरी होती गई। गरमी का दिन, दुपहरी का समय, खोजते-खोजते एक कुआँ दिखाई दिया। वहाँ गया, देखा, पानी है, रस्सी पड़ी है, डोल भी पड़ी है, पर पानी निकालने वाला कोई नहीं है। उसने सोचा, पानी निकालूँ और प्यास बुझाऊँ। दूसरे ही क्षण विचार आया कि मैं पानी कैसे निकाल सकता हूँ ? मैं तो अमीरजादा हूँ, बड़ा आदमी हूँ। मैं पानी निकालूँ और कोई देख ले तो मेरा बड़प्पन चूर-चूर हो जाएगा। बड़े लोग क्या समझेंगे ? वे कहेंगे कि देखो आज अमीरजादा अपने हाथ से पानी निकालकर पी रहा है। बड़ी भद्दी बात होगी। वह बिना पानी निकाले, प्यासा बैठ गया।

थोड़ी देर हुई, इतने में दूसरा आदमी आया। वही हालत। कंठ सूखे जा रहे हैं, बुरी हालत हो रही है। गहरी प्यास, पानी पीने के लिए खोजते-खोजते वहीं आया। देखा, डोल पड़ी है, रस्सी है, कुआँ है और आदमी भी बैठा है। बोला, 'अरे भाई ! बहुत प्यास लगी है, पानी पिला दो।' उसने

कहा, 'मैं अमीरजादा हूँ, मैं कैसे पानी निकालूँ? तुम ही पानी निकालो।' उसने कहा, 'मैं कैसे निकालूँ? मैं नवाबजादा हूँ।' वह भी बैठ गया। पहले एक था, अब दो हो गए।

थोड़ी देर हुई, तीसरा आदमी आया। वह दूर से ही पानी-पानी चिल्ला रहा था। वे बोले नहीं, चुपचाप बैठे रहे। वह पास आया और बोला, 'अरे भाई! प्यासा हूँ, पानी तो पिला दो।' एक बोला, 'आप शांत रहें, ज्यादा हल्ला करने की जरूरत नहीं है। मैं अमीरजादा हूँ, दूसरा नवाबजादा है, इसलिए हम दोनों ही पानी नहीं निकाल सकते। अब तुम पानी निकालो।' वह बोला, 'मैं कैसे निकालूँ, मैं तो शाहजादा हूँ।' तीनों प्यासे बैठ गए।

थोड़ी देर हुई, चौथा आदमी आया। वह भी प्यासा था। वहीं पहुँच गया। डोल और रस्सी को पड़े देखा, साथ ही तीन उदास चेहरों को भी देखा। वह डोल को रस्सी से बाँधकर पानी निकालने लगा, तो वे तीनों चिल्लाए, 'भाई! हमें भी पानी पिलाना, अन्यथा प्यास के मारे प्राण निकलने में ज्यादा देर नहीं है।' वह बोला, 'सब साधन तो आपके पास ही थे। पानी निकालते और पी लेते।' पहला बोला, 'मैं अमीरजादा हूँ, पानी निकालूँ तो इज्जत भ्रष्ट हो जाएगी।' दूसरा बोला, 'मैं नवाबजादा हूँ, पानी निकालूँ तो सारी मर्यादा खंडित हो जाएगी।' तीसरे ने कहा, 'मैं शाहजादा हूँ, पानी निकालने के लिए थोड़े ही जन्मा हूँ?' तब उस चौथे आदमी ने कहा, 'ठीक है। बैठे रहो। मैं ही पानी निकालकर पी लेता हूँ।' वह पानी पीने लगा। तीनों बोल पड़े, 'अरे! हमें भी तो पानी पिलाओ।' उसने कहा, 'मैं हरामजादा हूँ, खुद पानी पीता हूँ, पिलाता किसी को नहीं। यही मेरी मर्यादा है।' वह पानी पीकर चलता बना। उन्होंने पूछा, 'तुम हरामजादे कैसे बने?' तो जवाब मिला—'अमीरजादों, नवाबजादों और शाहजादों ने हरामजादों को पैदा किया है।'

अत्यंत मार्मिक व्यंग्य है। यह पूरे समाज की स्थिति का चित्रण है।

समाज में हरामजादा कोई भी नहीं होता, किन्तु जब समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग अमीरजादा, शाहजादा और नवाबजादा बनकर बैठ जाता है, तब हरामजादों को जन्म लेना ही पड़ता है। इसके अलावा और कोई उपाय शेष नहीं रह जाता। यह समाज की प्रकृति का विकृत स्वरूप है। जहाँ परस्परालंबन की बात खत्म हो जाती है, वहाँ आदमी यह अनुभव नहीं करता कि कोई मुझे सहारा दे रहा है, आलंबन दे रहा है, मैं किसी के सहारे से जी रहा हूँ। वहाँ सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है, हिंसा, क्रूरता और कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं।

सामाजिक जीवन का सबसे बड़ा और पहला सूत्र है—परस्परालंबन। यह होता है, तब अन्य सामाजिक विशेषताएँ शुरू होती हैं। सामाजिकता का एक लक्षण होता है—अनुशासन। अनुशासन कब आता है? परस्परालंबन के आधार पर अनुशासन विकसित होता है। सब चाहते हैं कि समाज में अनुशासन आए। अनुशासन का विकास जब तक नहीं होता, तब तक परस्परालंबन की चेतना नहीं जाग सकती।

मालिक अपने नौकर पर अनुशासन करना चाहता है। स्वामी अपने सेवक पर अनुशासन करना चाहता है। किन्तु जब-जब सेवक को, नौकर को यह अनुभव होता है कि यह मेरे आलंबन का मूल्यांकन नहीं कर रहा है, मुझे आदमी तो समझ ही नहीं रहा है, फिर उसमें अनुशासन की चेतना नहीं जागेगी, प्रतिक्रिया की चेतना जागेगी। अनुशासन सहज भाव से आता है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं। सहज भाव से तब आता है, जब परस्परालंबन का अनुभव हो।

जीवन की दिशा

मुनि अनाथी ध्यान करने के बाद एक वृक्ष के नीचे खड़े हैं। सामने सम्राट श्रेणिक हाथ जोड़कर खड़ा है। उसने पूछा, 'आपने घर छोड़ दिया, मुनि बन गए, आपको क्या मिला, आपने क्या पाया?'

मुनि बोले, 'मैंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया, सत्य को पा लिया। सत्य को केवल सुना या पढ़ा नहीं, स्वयं प्राप्त कर लिया है।'

सम्राट ने निवेदन किया, 'आपने जो पाया है, उसके आधार पर मुझे भी बताइए कि सत्य क्या है?' मुनि ने कहा—

'अप्पा णई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा में नदणं वणं।।
अप्ता कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठियो।।

इन दो श्लोकों में इतने बड़े सत्य का उद्घाटन हुआ है और उसकी अनेक दार्शनिक परिक्रमाएँ हुई हैं।

तीन निर्णायक सत्य

अनाथी मुनि ने कहा, 'सम्राट! मैंने इस सत्य को पा लिया। मेरे संकल्प की स्वतंत्रता है। हर व्यक्ति अपना संकल्प करने में स्वतंत्र है। संकल्प की शक्ति है, इसलिए मुझे अपने नैतिक नियमों के निर्धारण करने का अधिकार है। कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय करने का मुझे अधिकार है। तीसरी बात है कि मैं अपने कृत का स्वयं उत्तरदायी हूँ। मैंने संकल्प की स्वतंत्रता, नैतिक नियमन और उत्तरदायित्व, इन तीन सत्यों का साक्षात्कार किया है।

जिस व्यक्ति को ये तीन निर्णायक सत्य मिल जाते हैं, उसके जीवन की दिशा बदल जाती है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हम संकल्प की स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं कर रहे हैं। दो धाराओं के बीच हमारा जीवन चल रहा है। कुछ लोग सोच रहे हैं कि हमारा भाग्य ईश्वर के हाथ में है। वह जैसे चलाता है, हम चलते हैं। एक ईश्वर कर्तृत्व की धारा है, तो दूसरी परिस्थितिवाद की धारा है। कुछ लोग सोचते हैं कि आदमी वही करता है, जैसी परिस्थिति होती है। ईश्वरवाद और परिस्थितिवाद के बीच हमारे संकल्प की स्वतंत्रता खोई हुई है।

'पर' से है परिचय

मुनि ने कहा, 'मैं इन दोनों से हटकर इस निर्णय पर पहुँच गया हूँ कि मेरा संकल्प स्वतंत्र है। मैंने इसका प्रयोग करके देख लिया है। मुझे कोई पीड़ा से नहीं बचा सका। मेरा अपना संकल्प ही मेरे काम आया, मेरा रक्षक बना। मैं इस गहराई में चला गया हूँ कि जो स्रोत है, वह अपने भीतर ही है।'

हमारी बाहर की खोज बहुत चलती है। वह इसलिए चलती है कि हम पर से बहुत परिचित हो गये। हम स्व और पर, दोनों शब्दों को जानते हैं, किन्तु हम ज्यादा पर से ही परिचित हैं। हमारे सामने ज्यादा पर ही आता है, इसलिए हम स्व की बात समझ नहीं पाते। हमारी साधना के विषय में भी ऐसा ही है। लगता है कि हम स्व की दिशा में चल रहे हैं, परन्तु वास्तविकता में हम पर की ओर चले जाते हैं।

सार्थक सहवास

भगवान बुद्ध ने कुछ स्थविरों को निर्देश दिया, 'अमुक गाँव में चतुर्मास करके आओ।' तीस-चालीस भिक्षु भी थे। उन्होंने वर्गानुसार संयोजक बना लिए। सबको अपना काम समझा दिया गया। व्यवस्था हो गई। फिर सोचा कि कोई कलह नहीं हो, उसके लिए और क्या-क्या करना चाहिए? एक सुझाव आया कि हमें मौन करना चाहिए। एक भिक्षु ने तर्क प्रस्तुत दिया, 'मौन करने से क्या होगा? वह तो एक या दो घंटा किया जाएगा। बाईस घंटे शेष रह जाते हैं। लड़ाई होनी है तो हो ही जाएगी।' तीसरे भिक्षु ने सुझाव दिया, 'हम सब भिक्षु चार महीनों का मौन करें लें।' यह सुझाव सबको अच्छा लगा। सब भिक्षुओं ने मान्य कर लिया। चतुर्मास पूरा हो गया। भिक्षुओं ने सोचा, 'हम बुद्ध के पास जाएँगे, हमें प्रशंसा अवश्य मिलेगी।' भिक्षु बुद्ध के पास आए। भगवान बुद्ध ने कुशलक्षेम पूछी। भिक्षुओं ने पहले सारी व्यवस्थाओं के बारे में बताया। उन्होंने कहा, 'हम सब चार महीने बिल्कुल मौन रहे, बड़ा शांत सहवास बीता।' बुद्ध बोले, 'भिक्षुओं, यह क्या किया? इससे तो अच्छा रहता कि पशुओं का टोला लाकर खड़ा कर लेते। तुम्हारे खर्च का बोझा तो नहीं बढ़ता। तुम वहाँ परस्पर बातचीत करते, लोगों को धार्मिक कथाएँ सुनाते, ज्ञान देते, फिर शांत सहवास बिताकर आते, तब कुछ श्रेयस्कर काय होता, तभी सहवास की सार्थकता होती। यह तो ठीक वैसा हुआ, जैसे पशुओं का टोला काम करता है।'

आत्मदर्शन की भूमिका

जब हम केवल निमित्तों पर ही अटक जाते हैं, भीतर के स्रोत तक नहीं जाते, समस्या का समाधान नहीं होता। शायद इसलिए स्थविरकल्पी को अधिक महत्त्व दिया गया। स्थविरकल्पी सबके साथ रहकर अपना नियंत्रण करता है। उस स्थिति में अनुशासित रहकर शांत सहवास करता है, जितेन्द्रिय रहता है, यह बड़ी साधना है। अकेला जंगल में रहकर साधना करने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है शहर में रहकर साधना करना। एक साधक ने बीस-पच्चीस वर्ष हिमालय में रहकर साधना की। उसके बाद आश्रम में आकर बैठा तो लड़ाइयाँ करने लगा। साधना की कसौटी होती है समुदाय में।

अनाथी मुनि ने कहा, 'मैं वहाँ पहुँच गया हूँ, जिसे उपादान की भूमिका कहें, निश्चय की भूमिका या आत्मदर्शन की भूमिका कहें। यह वह भूमिका है, जहाँ आनंद का स्रोत मिलता है, ज्ञान और शक्ति का स्रोत भी मिल जाता है। मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? घर क्यों छोड़ना चाहिए? पेड़ के नीचे अकेला क्यों खड़ा होना चाहिए? यह मैंने देख लिया। इस कर्तव्य का निर्माण मैंने स्वयं किया है, मेरे संकल्प की स्वतंत्रता ने किया है। मेरा संकल्प और स्वतंत्रता यह करा रहे हैं और मैं जानता हूँ कि अपने कृत का स्वयं उत्तरदायी हूँ।'

घटना और संवेदन

हम सुख और दुःख का आरोपण भी दूसरों पर कर देते हैं। हमारा सारा ध्यान इसी पर अटका हुआ है। कोई घटना घटती है, तत्काल मन में आता है कि उसने ऐसा कर दिया, उसने ऐसा कह दिया। कोई निमित्त होता ही नहीं है, ऐसी बात नहीं है। अनेकांतवाद को मानने वाला निमित्तों को अस्वीकार नहीं करेगा। निमित्त हो सकते हैं, पर निमित्त केवल घटना प्रस्तुत कर सकता है, सुख-दुःख नहीं दे सकता। सुख-दुःख का संवेदन होना एक बात है और सुख-दुःख की घटना पैदा कर देना बिलकुल दूसरी बात है। मलेरिया के कीटाणु मलेरिया पैदा कर सकते हैं। यक्ष्मा के कीटाणु यक्ष्मा पैदा कर सकते हैं। ये कीटाणु या वायरस एक बाहरी निमित्त पैदा कर सकते हैं। प्रशंसा का एक शब्द अहंकार को जगा सकता है। हम इस सच्चाई को समझें कि बीमारी होना एक घटना है और सुख-दुःख भोगना दूसरी बात है। क्या यह संभव है कि बीमारी हो पर दुःख न हो? यही तो अध्यात्म है, बीमारी है, पर दुःख नहीं है, दुःख का संवेदन नहीं

हैं। यह बात समझ में आ जाए तो महत्त्वपूर्ण सत्य उपलब्ध हो जाए।

अलग अनुभूति

वस्तुतः दुःख का संवेदन आंतरिक है। इसका संबंध केवल कर्म से है। वेदनीय कर्म से इसका संबंध है या इससे जुड़े मोहनीय कर्म से संबंध है, किन्तु घटना का किसी से संबंध नहीं है। उसे कोई भी पैदा कर सकता है। वर्षा होती है और ठंडी हवा चलती है। इसका सबके साथ संबंध है। उससे एक व्यक्ति को सर्दी लगती है और दूसरे को आनंद अनुभव होता है। घटना तो एक है, पर अनुभूति है अलग-अलग। प्रश्न है, घटना समान होने पर भी अनुभूति में अंतर क्यों? शरीर की प्रकृति का अंतर है या अपने संवेदन का अंतर? एक घटना होने से एक व्यक्ति तो रोने लग जाता है और इसी घटना से प्रभावित एक व्यक्ति कहता है कि कोई बात नहीं, मुझे गहराई में जाना चाहिए। इन बाह्य प्रकोपों से मुक्त रहना चाहिए। एक ही घटना से एक व्यक्ति क्रोधित होता है और दूसरा अन्तर्मुखी हो जाता है, जागरूक बन जाता है। अगर सारा भार परिस्थितियों और निमित्तों पर डाल दें, तो उत्तरदायित्व किसका होगा? क्या उत्तरदायित्व परिस्थिति वहन करती है? वह उत्तरदायित्व का भार नहीं ओढ़ती। सारा उत्तरदायित्व व्यक्ति का है, यह अध्यात्म का बहुत बड़ा सत्य है। इसका जितना-जितना साक्षात्कार होता है, उतना ही व्यक्ति सुख-दुःख से परे होता चला जाता है।

स्वस्थ जीवन की शैली

अध्यात्म और विज्ञान के बीच संतुलन होना अत्यंत आवश्यक है। इनके बीच विभाजन की रेखा खींचना एकपक्षीय दृष्टिकोण है। ये दोनों सत्य की खोज के दो विशिष्ट आयाम हैं। सत्य की खोज में सबसे बड़ी बाधा है एकांगी दृष्टिकोण। महावीर ने कहा—‘अनेकांत का दृष्टिकोण अपनाए बिना सत्य के शोध की दिशा में हम बहुत आगे नहीं बढ़ सकते।’

अनेकांत के पहलू

अनेकांत के दो पहलू हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। अस्तित्व की खोज की पद्धति का नाम निश्चयनय है। अस्तित्व के परिवर्तनशील रूपों की खोज की पद्धति का नाम व्यवहारनय है। द्रव्य की समग्रता अस्तित्व और उसके परिवर्तनशील रूप, दोनों के समन्वय से ही जानी जा सकती है।

आचारंग सूत्र का एक सूक्त है—‘जो एक को जानता है, वह सबको जानता है। जो सबको जानता है, वह एक को जानता है’—

जे एगं जाणई से सव्वं जाणई।

जे सव्वं जाणई से एगं जाणई।।

अध्यात्म की खोज भौतिक पदार्थ की खोज किए बिना अधूरी रहेगी। इसी प्रकार भौतिक पदार्थ की खोज अध्यात्म की खोज के बिना अधूरी रहेगी। एक भौतिकशास्त्री को यदि एक परमाणु का सर्वथा ज्ञान करना है, तो वह आत्मा या चेतना को जाने बिना उसे सर्वथा नहीं जान सकता। ठीक इसी प्रकार आत्मविज्ञानी भौतिक पदार्थ को जाने बिना आत्मा को सर्वथा नहीं जान सकता।

अनेकांत दृष्टि

द्वैतवादी दार्शनिकों ने चेतन और अचेतन, दोनों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया। उन्होंने केवल आत्मा की ही खोज नहीं की, पदार्थ की भी खोज की। चेतन और अचेतन, दोनों के संबंध की भी खोज की। इसलिए पूर्ण सत्य को समझाने वाली हमारी भाषा होगी, जहाँ हम अध्यात्म विज्ञान का प्रयोग करते हैं, वहाँ भौतिक विज्ञान उसी की पृष्ठभूमि में छिपा हुआ है और जहाँ हम भौतिक विज्ञान का प्रयोग करते हैं, वहाँ अध्यात्म विज्ञान उसकी पृष्ठभूमि में छिपा हुआ है। दोनों को सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता, यह अनेकांत दृष्टि की समर्थता है। अद्वैतवादी दार्शनिकों ने भी द्वैत को सर्वथा नकारा नहीं। चेतन्याद्वैत को स्वीकार करने वाला वेदांत भी पदार्थ को सर्वथा अस्वीकार नहीं करता। जड़ाद्वैतवादी चार्वाक भी चेतना को सर्वथा अस्वीकार नहीं करता।

सत्य की खोज

केवल अध्यात्म विज्ञान और केवल भौतिक विज्ञान के आधार पर जीवन की व्याख्या नहीं की जा सकती। अप्पणा सच्चमेसेज्जा—यह सत्य की खोज का महामंत्र है। दूसरों द्वारा खोजे हुए सत्यों अथवा नियमों का उपयोग करना मनीषा की परम्परा है। किन्तु स्वयं सत्य की खोज किए बिना दूसरों द्वारा खोजा हुआ सत्य हृदयंगम नहीं होता। हम दूसरों द्वारा खोजे हुए सत्य पर विराम न लगाएँ। अपने द्वारा खोजा हुआ सत्य उसके साथ जोड़कर सत्य के शोध की परम्परा को आगे बढ़ाएँ।

जीवन एक सच्चाई है। इसे हर मनीषी ने अपनी समझ की आँखों से देखा है, फिर भी समग्रता से उसकी व्याख्या नहीं हुई। यह आज भी हमारे लिए शेष है कि हम जीवन की सच्चाई को अपनी-अपनी आँखों से देखें और उसकी व्याख्या को अधिक स्पष्ट व प्रासंगिक बनाएँ।

नवांगी जीवन

जीवन के घटक तत्त्व नौ हैं—

(१) ओज आहार—जीवन के प्रथम क्षण में होने वाली पौद्गलिक संघटना (२) शरीर (३) इंद्रिय (४) श्वास (५) भाषा (६) मन (७) प्राण (८) चित्त (९) भाव।

इस नवांगी जीवन के पदार्थों को समझे बिना जीवनशैली के यथार्थ को नहीं समझा जा सकता।

प्रवर एवं अवर

जीवनशैली को प्रवर और अवर मानने का आधार यथार्थ है। शारीरिक स्वास्थ्य, ऐंद्रिय स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य और भावात्मक स्वास्थ्य को पोषण देनेवाली जीवनशैली प्रवर है। जिस जीवनशैली से सर्वांगीण स्वास्थ्य की हानि होती है, वह जीवनशैली उचित नहीं मानी जा सकती। व्याख्या का अग्रिम चरण यह है कि जो जीवनशैली श्वास को दीर्घ और प्राणऊर्जा में वृद्धि करती है, वह प्रवर है। जिससे श्वास छोटा और प्राणऊर्जा क्षीण होती है, वह जीवनशैली अवर है। चित्त को प्रसन्न रखने वाली जीवनशैली प्रवर है तथा चेतना को अवसाद और विषाद की स्थिति में ले जानेवाली जीवनशैली अवर है।

अपने विचारों, भावों और संवेदनाओं को दूसरों तक पहुँचाने का माध्यम भाषा है। भाषा को हम मन से अलग नहीं कर सकते। मन की सारी गतिविधियों का संचालन भाषा के माध्यम से होता है।

स्वास्थ्य का मूल आधार

शरीरविज्ञान की दृष्टि से स्वास्थ्य का मौलिक आधार नाडीतंत्र और ग्रंथितंत्र हैं। अध्यात्म की दृष्टि से स्वास्थ्य का मौलिक आधार है प्राणऊर्जा का संतुलन।

प्राण के तीन मुख्य प्रवाह हैं—१. चंद्र स्वर २. सूर्य स्वर ३. मध्य स्वर। योग की भाषा में इन्हें क्रमशः इडा, पिंगला और सुषुम्ना कहा जाता है।

चंद्रस्वर का संबंध मानसिक क्रियाकलाप से है। सूर्यस्वर का संबंध शारीरिक क्रियाकलाप से और मध्यस्वर का संबंध आंतरिक ऊर्जा के साथ है। चंद्रस्वर और सूर्यस्वर का संबंध मस्तिष्क के दोनों पटलों से है। चंद्रस्वर चलता है, तब मस्तिष्क का दायाँ पटल सक्रिय होता है। सूर्यस्वर चलता है, तब बायाँ पटल सक्रिय होता है।

मस्तिष्क तथा श्वसन

हेलीफेक्स विश्वविद्यालय (कनाडा) के मनोविज्ञान विभाग के अनुसंधानकर्ताओं ने नाक के दोनों तरफ से चलनेवाली श्वास-प्रश्वास का भी अध्ययन किया। दाएँ और बाएँ क्रम से चलने वाली श्वसन क्रिया और मस्तिष्कीय गोलार्द्धों में बारी-बारी से होने वाली क्रियाशीलता का गहरा संबंध पाया गया। जब दाहिने नथुने से श्वसन होता रहता है, तब बाएँ गोलार्द्ध में ई.ई.जी. द्वारा अधिक क्रियाशीलता देखी जा सकती है। इसका उल्टा भी सही है, अर्थात् बाएँ नथुने से श्वसन क्रिया होते समय दाहिने गोलार्द्ध में अधिक क्रियाशीलता परिलक्षित हुई। हमारा संचालनतंत्र मस्तिष्क से नियंत्रित होता है। अंतःद्गावी ग्रंथियों के स्राव उसके सहायक हैं और उसकी प्रभावी सहायक चेतना है। चेतना, ग्रंथितंत्र व मस्तिष्क एवं पृष्ठरज्जु का समन्वित अध्ययन और प्रयोग न करें तो स्वास्थ्य की समस्या का समाधान नहीं कर सकते। यह शरीरविज्ञान और मनोविज्ञान की सच्चाई है। इसके साथ अध्यात्म की सच्चाई को और जोड़ें तो कहा जाएगा—चेतना, नाडीतंत्र और ग्रंथितंत्र के साथ प्राण का अध्ययन किए बिना हम स्वास्थ्य के रहस्यों को समग्रतः नहीं समझ सकेंगे।

स्वस्थ समाज की संरचना

बीसवीं शताब्दी संहारक अस्त्रों के निर्माण, जातीय एवं साम्प्रदायिक संघर्ष, अनावश्यक हिंसा, आतंकवाद, अपराध और पर्यावरण प्रदूषण के लिए प्रसिद्ध रही है। आज प्रत्येक चिंतनशील व्यक्ति का मन आंदोलित है कि उक्त समस्याओं का समाधान कैसे किया जाए? नए समाज अथवा स्वस्थ समाज की संरचना कैसे संभव हो? आचार्य तुलसी ने १९४५ में स्वस्थ समाज रचना का संकल्प प्रस्तुत किया था। उस संकल्प का जीवन दर्शन है—अणुव्रत। अणुव्रत का मूल तत्त्व संयम है। स्वस्थ व्यक्ति और स्वस्थ समाज की रचना के लिए जिस जीवनशैली की आवश्यकता है, उसे हम एक शब्द में परिभाषित कर सकते हैं। वह है 'संयमाभिमुख जीवनशैली'।

आहार का संयम नहीं है, इसलिए शारीरिक, मानसिक और भावात्मक स्वास्थ्य बिगड़ रहा है, हिंसा बढ़ रही है। हिंसा और साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के साथ शारीरिक क्रिया का गहरा संबंध है। यह सच्चाई वैज्ञानिक अनुसंधान से स्पष्ट है। शारीरिक प्रवृत्तियों का संयम किए बिना, क्या स्वस्थ समाज की रचना का स्वप्न सकार हो सकता है? वाणी का असंयम भी संघर्ष के लिए कम जिम्मेदार नहीं है। अतः स्वस्थ व्यक्ति और स्वस्थ समाज रचना के लिए अपेक्षित जीवनशैली का आधार सूत्र है—संयम। इंद्रिय का असंयम भी आर्थिक तथा अन्य अपराधों के लिए उत्तरदायी है। अध्यात्म ने हजारों-हजारों वर्ष पहले घोषणा की थी कि इंद्रिय चेतना को कभी तृप्त नहीं किया जा सकता। अतृप्ति और आसक्ति का चक्र अनेक जटिल समस्याओं का निर्माण कर रहा है।

समता, संवेग और समाज

स्वस्थ समाज रचना की जीवनशैली का दूसरा आधार है—समता। समता का अर्थ है संवेग संतुलन। गहन मनोविज्ञान और व्यवहार मनोविज्ञान ने मानवीय चेतना के अध्ययन का प्रबल प्रयत्न किया है। यह आत्मा या चेतना के अध्ययन का आधुनिक आयाम है। मौलिक मनोवृत्तियों और संवेग के विश्लेषण ने आंतरिक चेतना के अनेक आवरण दूर किए हैं। जीने के सिद्धान्त ने जीवन की वृत्तियों को समझने का अवसर दिया है। स्वस्थ समाज की रचना में सामाजिक और आर्थिक विषमता का मूल स्रोत है—संवेगों का असंतुलन। अहंकार और ममकार, ये दोनों संवेग विषमता के जनक हैं। क्रोध, माया, लोभ, भय, घृणा, वासना आदि के अतिरेक विषमता के पोषक हैं। इस संवेग समूह से प्रभावित जीवनशैली स्वस्थ समाज अथवा अहिंसक समाज की रचना कभी नहीं कर सकती। यदि समाजवादी और साम्यवादी शासन प्रणाली के साथ संवेग को संतुलित करने के प्रयोग जुड़े होते, तो स्वस्थ समाज की रचना को नई दिशा मिल जाती।

संवेग का संतुलन

संयम और समता के सिद्धान्त संवेग संतुलन की साधना किए बिना जीवनव्यापी नहीं हो सकते। अध्यात्म के क्षेत्र में संवेग नियंत्रण के अनेक प्रयोग बतलाए गए हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि संवेग नियंत्रण के प्रयोगों का समुच्चय ही अध्यात्म है। संवेग नियंत्रण के लिए प्रेक्षाध्यान के प्रयोग बहुत सफल हुए हैं। उनके आधारभूत सूत्र हैं—

१. शारीरिक परिवर्तन २. विरोधी संवेग का जागरण
३. यथार्थ दृष्टिकोण ४. आवेश के कारणों का निवारण

मनुष्य के शरीर में दो नियंत्रण प्रणालियाँ हैं—

१. रासायनिक नियंत्रण प्रणाली २. विद्युत नियंत्रण प्रणाली

रासायनिक नियंत्रण प्रणाली स्वतः चालित है। अंतःस्त्रावी ग्रंथियाँ उसे संचालित करती हैं। अंतःस्त्रावी ग्रंथियों का नियमन लिम्बिक सिस्टम के हाइपोथेलेमस से होता है। हम प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों द्वारा हाइपोथेलेमस या भावधारा को प्रभावित कर सकें तो संवेग नियंत्रण की साधना आगे बढ़ सकती है। विद्युत नियंत्रण प्रणाली स्नायु संस्थान की विद्युत शक्ति द्वारा शरीर को नियंत्रित करती है। उसे बुद्धि से अल्प मात्रा में और भावना से अधिक मात्रा में प्रभावित किया जा सकता है। अध्यात्म, योग और ध्यान की पद्धति का समुचित प्रशिक्षण संवेग नियंत्रण और संवेग संतुलन की दिशा में काफी मददगार साबित हो सकता है।

अनासक्ति

स्वस्थ समाज रचना की जीवनशैली का तीसरा आधार है—अनासक्ति। आधुनिक अर्थशास्त्र ने आसक्ति की चेतना को बहुत उभारा है। उससे भूख की समस्या का समाधान तो हुआ है, किन्तु आर्थिक अपराधों में भारी वृद्धि हुई है। अमीरों की अमीरी अधिक बढ़ी है, लेकिन उसी अनुपात में गरीबों को उतनी सुविधाएँ नहीं मिली हैं। आसक्ति को कम करने का ध्रुव सिद्धान्त है—**धन साधन है, साध्य नहीं**। यह जीवन यात्रा को चलाने का एक माध्यम है। उसके लिए चेतना के शेष आयामों की उपेक्षा करना समाज को कमजोर बनाने की कोशिश करना है। अनासक्ति का जीवन में अवतरण सरल कार्य नहीं है, उसके लिए प्रशिक्षण और प्रयोग जरूरी हैं।

जीवनशैली की त्रिपदी

संयम, समता और अनासक्ति, यह स्वस्थ जीवनशैली की त्रिपदी है। स्वस्थ जीवनशैली से ही स्वस्थ समाज की रचना का कार्य पूर्ण हो सकता है। अहिंसा और शांति इस जीवनशैली के फलित हैं। हम फलित को प्राप्त करना चाहते हैं, लेकिन जीवनशैली को बदलना नहीं चाहते।

अध्यात्म और विज्ञान दोनों एक ही सत्य के दो पक्ष हैं। वैज्ञानिक शोध का उद्देश्य मानवीय समस्याओं को सुलझाना था, किन्तु आज उसका व्यवसायीकरण हो गया, इसलिए वह भय, आतंक और हिंसा का प्रतीक बनता जा रहा है। आध्यात्मिक चेतना को जागृत कर इस व्यावसायिक वृत्ति को कम किया जा सके, तो जीवनशैली को बदलने का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आज या कल, हमें एक दिन अवश्य ही इस विषय पर गंभीर चिंतन करना होगा। असंयम, विषमता और आसक्ति प्रधान जीवनशैली के स्थान पर संयम, समता और अनासक्ति की जीवनशैली को प्रतिष्ठित कर हम धन्यता का अनुभव करेंगे।

अध्यात्म से आरोग्य

तन और मन दोनों स्वस्थ रहें, यह हर व्यक्ति की स्वाभाविक आकांक्षा है। शरीर स्वस्थ हो और मन स्वस्थ न हो तो पागलखाने जाना होगा। मन स्वस्थ हो, शरीर स्वस्थ न हो तो अस्पताल, दवाखाने की शरण लेनी पड़ेगी। दोनों घर से दूर ले जाते हैं। शरीर से भी ज्यादा सताने वाली या कष्टदायी हैं मन की बीमारियाँ। मन बहुत सताता है। रोग के दो अधिष्ठान माने गए हैं—शरीर और मन। इसी आधार पर बीमारी के भी दो भेद कर दिए गए—शारीरिक रोग और मानसिक रोग। धर्म या अध्यात्म के साथ मानसिक रोगों का संबंध ज्यादा है। एक सिद्धान्त है कि वीतराग को मन का रोग नहीं होता। मन का रोग नहीं होता, इसलिए शरीर का रोग भी नहीं होता। मन शरीर पर बहुत प्रभाव डालता है। मन रोग की जैसी स्थिति पैदा कर देता है या जैसे खतरनाक हालात बना देता है, रोग वैसा होता नहीं है। शरीर का रोग सबसे पहले प्रभाव डालता है शरीर पर और फिर प्रभाव डालता है मन पर। मन की बारी बाद में आती है। मन का रोग पहले प्रभाव डालता है मन पर और उसके बाद प्रभाव डालता है शरीर पर। दोनों के ही अपने-अपने कार्यक्षेत्र और प्रभावक्षेत्र हैं। शरीर का रोग शरीर पर और मन का रोग मन पर। लम्बे समय के बाद या उत्तर काल में शरीर और मन दोनों परस्पर प्रभावित होते हैं।

वीतरागता की दिशा

धर्म या अध्यात्म का सिद्धान्त है वीतरागता। शायद हमारी दुनिया में वीतराग से ज्यादा कोई सार्थक शब्द नहीं है। जीवन के विकास का इससे बड़ा कोई शब्द नहीं है। वीतराग बन गया, इसका अर्थ है कि व्यक्ति शिखर पर

पहुँच गया। अब कोई चोटी बाकी नहीं रही जहाँ आरोहण करना हो, चढ़ना हो। वीतरागता सर्वोच्च शिखर या परम बिंदु है। अध्यात्म की फलश्रुति है वीतरागता। अध्यात्म की आराधना इसलिए की जाती है कि वीतरागता उपलब्ध हो जाए। जो व्यक्ति वीतरागता की दिशा में प्रस्थान कर देता है, उसके लिए भी मानसिक बीमारी का प्रश्न नहीं होता। वीतरागता के लिए तो है ही नहीं। ध्यान की साधना वीतरागता की दिशा में प्रस्थान है। व्यक्ति ध्यान करता है चित्त की निर्मलता के लिए। चित्त की निर्मलता का अर्थ है वीतरागता की दिशा में प्रयाण। जैसे-जैसे चित्त की निर्मलता बढ़ती जाएगी, वीतरागता का लक्ष्य निकट आता जाएगा। राग और द्वेष दोनों मलिनता पैदा करते हैं। द्वेष की मलिनता का हमें पता चल जाता है, किन्तु राग की मलिनता की कोई जानकारी नहीं होती। वस्तुतः दोनों ही फैक्ट्रियों के जहरीले रासायनिक द्रव्य हैं, जो हमारे चित्त को मैला और विषैला बना देते हैं।

विवेक

एक आदमी बड़ा क्रोधी है, लालची है। वह समझता है कि यह कोई बुराई नहीं है, किन्तु ठंडे दिमाग से सोचें तो पता चलेगा कि लोभ भी एक बड़ी मानसिक बीमारी है। आज यह मान लिया गया कि महत्त्वाकांक्षा मात्र जीवन चलाने के लिए हो तो उसे उचित मान लिया जाए, किन्तु वह असीम बन जाए तो एक बीमारी ही कहलाएगी। स्वयं बड़ा बने, बेटा भी बने और पोता भी बने, यह महत्त्वाकांक्षा जागे तो बड़ा बनने के उचित-अनुचित तरीकों का विवेक भी समाप्त हो जाएगा। आज समाज में तेजी से फैल रहा भाई-भतीजावाद भी मानसिक रुग्णता का ही परिणाम है। आज राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र का विश्लेषण करें तो मानसिक दृष्टि से रुग्ण व्यक्ति ज्यादा मिलेंगे और स्वस्थ व्यक्ति बहुत कम मिलेंगे। ज्यादातर आदमी अपनी बुद्धि से नहीं चलते, अपनी मनीषा से नहीं चलते। अपनी बुद्धि या विवेक से चलने वालों की संख्या कम है।

महत्त्वाकांक्षा

मानसिक बीमारी का प्रमुख कारण महत्त्वाकांक्षा है। प्रतिस्पर्धा के इस युग में इसीलिए मानसिक रूप से स्वस्थ लोगों की संख्या कम है। अस्वस्थ लोगों की संख्या ज्यादा हो सकती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह मानसिक बीमारियाँ हैं। जिस प्रकार सिरदर्द, पेटदर्द, घुटने का दर्द, बुखार आदि शरीर

की बीमारियों की एक लम्बी तालिका है, उसी प्रकार मन की बीमारियों की भी एक लम्बी लिस्ट है। इसकी अध्यात्म के क्षेत्र से तुलना करें तो वही तालिका इस क्षेत्र में भी मिल जाएगी। यह एक ऐसा बिंदु है, जहाँ स्वास्थ्य विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान दोनों एक भूमिका पर आ जाते हैं। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि क्रोध मत करो। क्रोध एक बीमारी है। धर्म का सिद्धान्त कहता है कि क्रोध मत करो। क्रोध एक बंधन है। अन्तर सिर्फ भाषा का है। एक स्थान पर शब्द है बंधन, दूसरे स्थान पर शब्द है रोग। यह भूमिका का अन्तर हो सकता है, किन्तु तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। इसीलिए कहा गया कि स्वस्थ रहना है तो क्रोध, लोभ का त्याग बहुत जरूरी है।

विधेयक भावों का निर्माण

दुनिया में कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो न बदलता हो। सबमें परिवर्तन होता है। हृदय में भी परिवर्तन होता है। 'हृदय-परिवर्तन' इस प्रयोग का एक विशेष तात्पर्य है। यह कोई हृदय को ही बदल देना नहीं है, जैसे आज डॉक्टर करते हैं। वे कृत्रिम हृदय लगाकर आदमी को लम्बे समय तक जीवित रख लेते हैं।

पति और पत्नी डॉक्टर के पास गए। पति का हृदय कमजोर था। उसे बार-बार हृदय रोग हो जाता था। डॉक्टर को दिखाया। डॉक्टर ने ऑपरेशन का सुझाव दे दिया। ऑपरेशन हो जाएगा, जीर्ण-शीर्ण हृदय को बदलकर, मजबूत हृदय लगा दिया जाएगा। ऑपरेशन किया। हृदय बदल दिया गया। वह स्वस्थ हो गया।

एक बार वह पत्नी डॉक्टर से मिली। डॉक्टर ने पूछा, 'कैसे हैं तुम्हारे पति? स्वस्थ तो हैं, हृदय ठीक काम कर रहा है?' वह बोली, 'डॉक्टर महोदय! पति बिल्कुल स्वस्थ हैं। हृदय भी ठीक काम कर रहा है। पर न जाने उन्हें क्या हो गया है! वे झूठे वादे बहुत करते हैं, झूठे आश्वासन बहुत देते हैं।' डॉक्टर बोला, 'मैं ही भूल कर बैठा। मैंने जल्दबाजी में उन्हें एक राजनेता का हृदय लगा दिया।'

हृदय बदल देने मात्र से हृदय-परिवर्तन नहीं हो जाता। हम जिस हृदय-परिवर्तन की चर्चा कर रहे हैं, वह एक हृदय को निकाल उसके स्थान पर कृत्रिम हृदय लगा देना नहीं है, किसी आदमी का हृदय दूसरे आदमी पर प्रत्यारोपित

करना नहीं है। हृदय-परिवर्तन से हमारा तात्पर्य निषेधात्मक भावों को समाप्त कर विधेयक भावों को जगाना है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर दो धाराएँ प्रवाहित होती हैं। एक है निषेधात्मक भावों की धारा और दूसरी है विधेयात्मक भावों की धारा। घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, रोग, ये सारे निषेधात्मक भाव हैं। इनकी एक धारा प्रवाहित हो रही है। मैत्री, अहिंसा, सहिष्णुता, आर्जव, मार्दव, ये विधेयात्मक भाव हैं। इनकी भी एक धारा प्रवाहित हो रही है। ये दोनों धाराएँ प्रत्येक आदमी में प्रवाहित होती रहती हैं, पर हमारी इस दुनिया में निषेधात्मक भावों की धारा को प्रकट होने का बहुत अवसर मिलता है, निमित्त अनेक मिल जाते हैं। पग-पग पर इतने निमित्त हैं कि निषेधात्मक भाव सहजता से उत्पन्न हो जाते हैं। हमारा कोई भी आचरण या व्यवहार आकस्मिक नहीं होता। किसी को गुस्सा आता है तो हम सोचते हैं कि यह आकस्मिक है, पर कोई आवेश आकस्मिक नहीं आता। वह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। कोई घृणा करता है, वह आकस्मिक नहीं है। हमारे भीतर वे भाव लगातार प्रवाहित हो रहे हैं। उनकी धारा चलती रहती है। निमित्त मिलने पर वे भाव प्रकट होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं होती। वे मात्र अभिव्यक्त होते हैं, उत्पन्न नहीं होते। वे एक रूप से नहीं जन्मते। वे जन्मे हुए ही हैं। निमित्त मिलता है और वे अभिव्यक्त हो जाते हैं।

पदार्थ के पर्याय

प्रत्येक पदार्थ के साथ व्यक्त और अव्यक्त दो पर्याय जुड़े रहते हैं। अव्यक्त पर्याय व्यक्त हो जाता है और व्यक्त पर्याय अव्यक्त हो जाता है। यह भावधारा अव्यक्त है, सूक्ष्म है। इसे निमित्त मिलता है और यह व्यक्त हो जाती है। व्यक्त होने पर हम इसे आचरण कह देते हैं। किसी भी आचरण एवं व्यवहार की व्याख्या इनके स्वरूप के आधार पर नहीं की जा सकती, भावधारा के आधार पर की जा सकती। आचरण से हमें पता चल जाता है कि व्यक्ति में किस प्रकार की भावधारा प्रवाहित हो रही है। जो व्यक्ति क्षण-क्षण में क्रोध करता है, उत्तेजित होता है, भयभीत होता है, अहंकारग्रस्त होता है, तो मान लेना चाहिए कि उसमें उस समय निषेधात्मक भावधारा प्रवाहित हो रही है और वह व्यक्ति उसी के प्रवाह में प्रवाहित होकर इन भावावेशों से आविष्ट हो रहा है। कोई आदमी सहिष्णु है, क्षमाशील और विनयी है, अनुशासित और अहंकारशून्य है, मैत्री और प्रेम में परिपूर्ण है, तो मान लेना चाहिए कि उसमें उस समय विधायक भावधारा बह रही है। यह सारा आकस्मिक नहीं होता

यदि आकस्मिक होता तो हर कोई ऐसा कर लेता। व्यक्ति ने भीतर की धारा में जाकर विधेयक भावधारा को सक्रिय बनाने का प्रयत्न किया है। वह भावधारा इस दिशा में प्रवाहित है और वह निमित्त पाकर प्रकट हो जाती है। बड़ा आश्चर्य होता है। विरोधी निमित्तों में भी दोनों प्रकार की घटनाएँ मिलती हैं। अनुकूल निमित्त में घटना घटित होती है, आश्चर्य नहीं होता। विरोधी निमित्त, जैसे निमित्त है क्षमा का और जाग जाता है क्रोध, निमित्त है क्रोध का और जाग जाती है क्षमा। बड़े आश्चर्य की बात है।

एक सुंदर कहानी है। शीतलादेवी का मंदिर था। एक कौआ आकर बैठ गया। शीतलादेवी बोली, 'अरे, यहाँ कैसे आना हुआ? क्यों बैठे हो यहाँ?' कौआ बोला, 'क्या यहाँ कोई आ नहीं सकता? क्या इस स्थान पर तुम्हारा ही अधिकार है?' कौआ बैठा रहा। वह बीटने लगा। अनेक बार बीट की। शीतला बोली, 'अरे भाई कौआ! आज तो बहुत ठंडी-ठंडी बीट कर रहा है।' कौए ने उत्तेजित होकर कहा, 'जो गर्म बीट करे उसे रख, मुझे यहाँ नहीं रहना है।' कौआ उड़ गया।

शीतलादेवी बहुत सीधी-साधी बात कर रही थी। वह अपने आप में शांत थी, पर कौआ उत्तेजना से भरा हुआ बात कर रहा था। ऐसा बहुत बार होता है। क्षमा का निमित्त भी क्रोध जगा देता है और क्रोध के निमित्त से भी क्षमा जाग जाती है। क्रोध को उभारने का प्रयत्न होता है, पर क्रोध उभरता ही नहीं। तीर्थकरों और साधकों की अनेक घटनाएँ हमारे समक्ष हैं, जिनमें क्रोध और उत्तेजना को उभारने का प्रयत्न किया गया, पर वे तीर्थकर और साधक क्षमा की ऊर्जा बिखेरते रहे। वे कुपित हुए ही नहीं। बार-बार प्रयत्न करने पर भी, प्रयत्न करने वाले को सफलता नहीं मिली।

क्या कारण है कि विरोधी निमित्तों के होने पर भी भिन्न प्रकार की घटनाएँ हो जाती हैं? इन सभी बातों से यह पता चलता है कि भीतर जिस प्रकार की भावधारा होती है, उसी प्रकार का आचरण अभिव्यक्त होता है। वहाँ निमित्त गौण हो जाते हैं। उपादान का स्थान पहला और निमित्त का दूसरा है। भावधारा उपादान है। यदि हम भीतर की भावधारा को मोड़ देते हैं तो वहाँ बाहर के निमित्त बहुत प्रभाव नहीं डाल सकते। जब तक व्यक्ति ध्यान के द्वारा भीतर प्रवेश नहीं करता, भीतर की गहराइयों में नहीं उतरता और अपने अन्तःकरण को पहचानने का प्रयत्न नहीं करता, तब तक निमित्त हावी रहता है और तब

आदमी उसी के प्रभाव में जीने लगता है। जिस व्यक्ति ने ध्यान के द्वारा अपने भावों को पहचान लिया है, उनके साथ सम्पर्क स्थापित कर लिया है, वहाँ निमित्त गौण हो जाते हैं और भाव प्रधान बन जाते हैं।

प्राचीन साहित्य में दस प्रकार के धर्म, चार या बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाएँ तथा अनेक प्रकार के आलंबन बतलाए गए हैं। उनके प्रतिपादन का कारण क्या था? वह यही तो था कि साधक इन माध्यमों से भावों के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित कर सके, भावधारा तक पहुँच सके और जो शुद्ध भावधारा है, विधायक भावधारा है, उसे जगा सके।

भावधारा

ध्यान करने वाले और ध्यान न करने वाले व्यक्ति तथा धर्म की आराधना करने वाले और न करने वाले व्यक्ति में यदि कोई भेद की रेखा खींचनी हो तो यही खींची जा सकती है कि जो अपने प्रयत्नों के द्वारा विधायक भावों की धारा को सक्रिय करता है, प्रवाहित करता है, वह ध्यानी होता है, धार्मिक होता है, आराधक होता है। जो ऐसा नहीं कर पाता, जो निषेधात्मक भावों की धारा में विशेष रस लेता है, वह अधार्मिक होता है, वह ध्यान करने वाला नहीं होता। यह धार्मिक और अधार्मिक की, ध्यानी और अध्यानी की मनोवैज्ञानिक पहचान है। इसी के आधार पर मनुष्य के सारे आचरणों और व्यवहारों की व्याख्या की जा सकती है। आज लोग परेशान हैं, इस दुनिया में हिंसक घटनाएँ बहुत घटित हो रही हैं, झूठ बहुत बोला जा रहा है, चोरियाँ और डकैतियाँ अधिक हो रही हैं, बलात्कार और व्यभिचार बढ़ा है, ईर्ष्या और द्वेष का बोलबाला है, अपराध प्रतिदिन बढ़ रहे हैं, उपद्रव और आक्रामक वृत्तियाँ अनियंत्रित हो रही हैं, साम्राज्यवादी मनोवृत्ति फैल रही है, इसका क्या कारण है? भावधाराओं के आधार पर यह सुगमता से कहा जा सकता है कि आज का आदमी निषेधात्मक भावों में अधिक जी रहा है। प्रत्येक मनुष्य में विधायक और निषेधात्मक दोनों भावधाराएँ सतत प्रवाहित हो रही हैं। निषेधात्मक भावों की अधिक सक्रियता से हिंसा को बल और बढ़ावा मिलता है और तब समाज में ये वृत्तियाँ अधिक पनपती हैं।

स्वर्णिम सूत्र

दूसरों के सहारे चलो पर अपने पैरों की ताकत कम मत करो।

दूसरों का सहयोग तभी मिलेगा जब तुम्हारे पैर ताकतवर होंगे।

करके देखें

- **आनंद केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान-हृदय परिवर्तन के लिए**
सहज आसन का चयन, आंखें कोमलता से बंद, अनुभव करे चारों ओर पत्रे की भांति चमकते हुए हरे रंग के परमाणु फैले हुए हैं। वे परमाणु प्रत्येक श्वास के साथ शरीर के भीतर प्रवेश कर रहे हैं। चित्त को आनन्द केन्द्र (हृदय का स्थान) पर केन्द्रित करें। वहां पर चमकते हुए हरे रंग का ध्यान करें। कुछ समय तक यथास्थिति का अनुभव करें। अब अनुभव करें आनन्द केन्द्र से हरे रंग के परमाणु निकलकर शरीर के चारों ओर फैल रहे हैं। पूरा आभामण्डल हरे रंग के परमाणुओं से भर रहा है। अब अनुभव करें भावधारा निर्मल हो रही है—३। दो-तीन लंबे गहरे श्वास के साथ प्रयोग सम्पन्न करें।

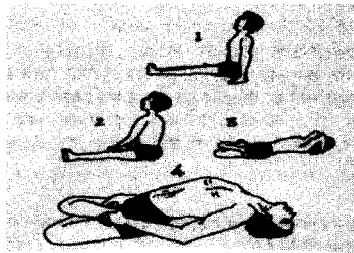
- **मंत्र का प्रयोग**

ॐ—इसका जप लयबद्ध उच्चारण के साथ करें। उच्चारण के समय सम्पूर्ण मस्तिष्क पर ध्यान केन्द्रित हो। वहां पर होने वाले प्रकंपनों को महसूस करें। तीन मिनट से ५ मिनट तक प्रयोग कर सकते हैं।

परिणाम—मानसिक स्वास्थ्य।

- **आसन-प्राणायाम**

मत्स्यासन—पद्मासन की स्थिति में बैठें। लेटने की मुद्रा में आने के लिए हाथों की कोहनी को धीरे-धीरे पीछे ले जाएं। पीठ पीछे झुकेगी। कुहनियों के सहारे शरीर को टिकाते हुए लेटने की मुद्रा में आ जाएं, हाथों की हथेलियां कंधों के पास स्थापित कर पीठ और गर्दन को ऊपर उठाएं। मस्तक का मध्य भाग सटा रहेगा। हाथ वहां से उठाएं। बाएं हाथ से दाएं पैर का अंगूठा पकड़े और दाएं हाथ से



बाएं पैर का अंगूठा पकड़े। कमर का हिस्सा भूमि से ऊपर रहेगा और आंख खुली रहेगी। श्वास-प्रश्वास दीर्घ एवं गहरा रखें। प्रारंभ में एक मिनट तक प्रयोग करें। फिर प्रति सप्ताह एक-एक मिनट बढ़ा सकते हैं।

लाभ—प्राण शक्ति विकसित होती है एवं मन की शुद्धि होती है।

❖ अध्याय कहता है ❖

जो परस्परावलम्बन की चेतना विकसित कर लेता है—

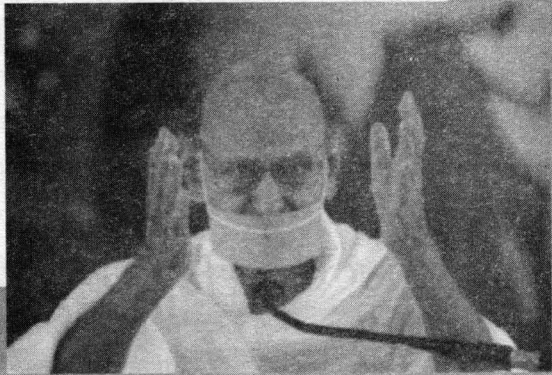
- वह दूसरों का सहारा बनता है।
- वह समाज में प्रतिष्ठा पाता है।
- वह अनुशासित जीवन जीता है।
- वह स्वस्थ जीवन-शैली को अपनाता है।
- वह भाई-भतीजावाद में विश्वास नहीं करता है।
- वह बल प्रयोग की जगह हृदय-परिवर्तन में विश्वास करता है।
- वह सभी के साथ मैत्री पूर्ण व्यवहार करता है।
- वह निमित्तों को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता है।
- वह अपराधिक गतिविधियों को बढ़ावा नहीं देता है।



“दिशा बदल जाना साधारण बात नहीं है। जैसे ही दिशा का परिवर्तन होता है, छाया भी पकड़ में आ जाती है, माया भी पकड़ में आ जाती है और काया भी पकड़ में आ जाती हैं। सब कुछ पकड़ में आ जाता है।”

अध्याय

७



जो लोग बड़े जीवों के लिए छोटों जीवों की हिंसा को उचित ठहराते हैं, वे छोटे जीवों के शत्रु हैं। रोगी दुःखी है। उसके दुःख को दूर करना डॉक्टर का कर्तव्य हो सकता है। किन्तु यह कर्तव्य कैसे हो सकता है कि एक अजन्मे बालक को मार कर जन्ममें बूढ़ें या युवक को बचाएं।



छ समय पहले की बात है। एक चर्चा पढ़ी, जिसका विषय था, 'सबसे बड़ी उपलब्धि क्या है?' जहाँ चर्चा होती है, वहाँ अनेक मत होते हैं। समाज में अनेक धाराओं के लोग हैं और अनेक मतों द्वारा विचारों का पोषण होता है। नृवंशशास्त्रियों का मत है कि संतति का विकास मानव समाज की सबसे बड़ी उपलब्धि है। मनुष्य ही एक ऐसा सामाजिक प्राणी है, जिसने अपनी संतति का विकास किया है। प्राणियों की अनेक जातियाँ आज लुप्त हो चुकी हैं, जबकि मनुष्य की आबादी पाँच अरब से ऊपर पहुँच चुकी है। संतति का विकास एक बड़ी उपलब्धि है।

समाजशास्त्रियों का अभिमत है कि कृषि का प्रारंभ मनुष्य की सबसे बड़ी उपलब्धियों में से एक है। मनुष्य ने जिस दिन पहला बीज बोया, पहली खेती की, उसे बड़ा समाधान मिला। उसका विकास आगे से आगे बढ़ता गया।

मौलिक मनोवृत्तियाँ

मानव-विकासशास्त्रियों का मत है कि दो पैरों पर खड़ा होना, दो हाथों को खाली रखना, मनुष्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है। रीढ़ के आधार पर खड़ा होना, दोनों हाथों को काम करने का अवसर देना, एक महान उपलब्धि है। यदि मनुष्य चौपाया (चार पैरों वाला) होता तो उसका मूल्य गाय-भैंस से अधिक नहीं होता।

मनुष्य की एक और बड़ी उपलब्धि दूसरे ग्रहों पर मनुष्य जाति की खोज भी है। इस पूरे ब्रह्माण्ड में मनुष्य कहाँ-कहाँ है, यह खोज हो रही है और यदि इसे सफलतापूर्वक खोज लिया गया, तो यह मानव की महान उपलब्धि होगी।

प्रश्न एक था, पर उसके समाधान में अनेक विचार, अनेक धारणाएँ सामने आईं। इन सभी धारणाओं के संदर्भ में अपना अभिमत प्रकट करना चाहता हूँ कि मनुष्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है—हृदय का परिवर्तन। आज तक मनुष्य की जो प्रतिमा बनी है, मनुष्य और पशु के बीच जो भेद की रेखा खींची गई है, उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण धारणा है 'हृदय का परिवर्तन'। कोई बड़े से बड़ा व अक्लमंद पशु और अन्य प्राणी भी ऐसा परिवर्तन नहीं जानते। मनुष्य ने हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त की स्थापना की है और इसका प्रयोग किया है। इसमें वह सफल हुआ है। मनोविज्ञान ने कुछ मौलिक मनोवृत्तियाँ मानी है। उनकी संख्या में मतभेद है, फिर भी दो-चार मनोवृत्तियाँ सर्वसम्मत हैं। आहार की खोज, काम की तृप्ति, पलायन और युयुत्सा, ये मौलिक मनोवृत्तियाँ हैं।

आहार की खोज मौलिक मनोवृत्ति है। इसका संवेग है, 'भूख'। आदमी को भूख लगती है, तब वह आहार की खोज करता है।

काम की तृप्ति मौलिक मनोवृत्ति है, इसका संवेग है 'मैथुन'। मनुष्य संतति पैदा करता है। हर प्राणी करता है।

पलायन मौलिक मनोवृत्ति है। इसका संवेग है 'मान'। युयुत्सा का अर्थ है लड़ने की इच्छा। आदमी लड़ने में रस लेता है।

ये कुछ मौलिक मनोवृत्तियाँ हैं। इनका परिष्कार हर आदमी कर सकता है। दूसरा कोई प्राणी ऐसा नहीं कर सकता। काम की वृत्ति का परिष्कार ब्रह्मचर्य में होता है। किसी भी प्राणी या पशु ने ब्रह्मचर्य का विकास नहीं

किया। भय का परिष्कार अभय में होता है। किसी भी प्राणी ने अभय का विकास नहीं किया। पशु आज भी उतने ही डरते हैं, जितना पहले डरते थे। उनमें उतनी ही काम-भावना है, जितनी पहले थी। युयुत्सा का परिष्कार सहिष्णुता में होता है। किसी भी प्राणी ने यह परिष्कार नहीं किया। पशु जितने पहले लड़ते थे, आज भी उतने ही लड़ते हैं। भौंकने वाला भौंकता है, लड़ने वाला लड़ता है। किसी भी देश के कुत्ते ने यह विकास नहीं किया कि उन्होंने भौंकना बंद कर दिया हो, परस्पर लड़ना बंद कर दिया हो। एक मोहल्ले का कुत्ता जब दूसरे मोहल्ले में जाता है, तब लड़ाई न होती हो, ऐसा न सुना, न देखा। संभव ही नहीं है। आज तक इस वृत्ति में परिष्कार नहीं हुआ। चाहे कुत्ता भारत का हो, अमेरिका का हो या रूस का हो, सबकी यह मनोवृत्ति समान है। इसमें कोई अंतर नहीं है।

दिशा से दशा का परिवर्तन

मनुष्य ने अपनी मौलिक मनोवृत्ति का परिष्कार किया है। मनोविज्ञान के संदर्भ में हृदय-परिवर्तन का अर्थ हो सकता है, 'मौलिक मनोवृत्तियों का परिष्कार'। जो मौलिक मनोवृत्तियों का परिष्कार है, वह चेतना का परिवर्तन है, हृदय का परिवर्तन है। दिशा बदल जाना साधारण बात नहीं है। आदमी एक ही दिशा में चलता है तो एक ही प्रकार का आचरण और व्यवहार होता है। जब दिशा बदलती है, तब सारी स्थितियाँ बदल जाती हैं, आचरण और व्यवहार बदल जाता है।

हिम्मत सिंह पटेल सौराष्ट्र का निवासी था। वह हड्डा-कट्टा और स्वस्थ था। उसे अपने शारीरिक बल पर गर्व था। वह मानता था कि ऐसा कोई भी कार्य नहीं है, जो मैं न कर सकूँ। एक दिन एक व्यक्ति ने कहा, 'हिम्मत सिंह! तुम शक्तिशाली हो। सब कुछ कर सकते हो, तो एक काम कर दिखाओ। वह काम है स्वयं की छाया को पकड़ना। सूरज उदय हो रहा है। जाओ, अपनी छाया को पकड़ो।' वह फौरन मान गया, बोला, 'अभी पकड़ता हूँ। यह भी कोई काम है!' वह दौड़ा छाया को पकड़ने। जैसे-जैसे दौड़ता है, छाया आगे बढ़ती जाती है। अपनी छाया को पकड़ने की दौड़ में वह

पसीने से नहा लिया। श्रम बहुत किया, पर सफल नहीं हुआ। ज्यों-ज्यों दौड़ता है, छाया आगे सरक जाती है। निराश हो गया। अचानक सामने संत आ गए। उन्होंने पूछा, 'अरे हिम्मत! यह क्या? इतने परेशान क्यों हो रहे हो?' वह बोला, 'महाराज! आज तक मैं कभी अपने काम में असफल नहीं हुआ। आज सफलता दूर भाग रही है। परेशान हूँ। मार्गदर्शन करें। मैंने अपनी छाया को पकड़ने का वादा किया है, पर अभी तक इसे पकड़ नहीं पाया हूँ। आप उपाय बताएँ।' संत बोले, 'बहुत सीधी बात है। तुम अपना मुँह मोड़ लो।' उसने मुँह मोड़ा, दिशा बदली। जैसे ही दिशा बदली, छाया पकड़ में आ गई। जहाँ खड़ा है, वहीं उसकी छाया स्थिर है।

जब दिशा बदलती है, तब छाया पकड़ में आ जाती है। आदमी छाया और माया के लिए दौड़ता है। पर न छाया पकड़ में आती है और न माया पकड़ में आती है। सब आगे से आगे बढ़ती जाती हैं। यह ऐसी मरीचिका है, जिसे कभी पकड़ा नहीं जा सकता। जैसे ही दिशा का परिवर्तन होता है, छाया भी पकड़ में आ जाती है, माया भी पकड़ में आ जाती है और काया भी पकड़ में आ जाती है। सब कुछ पकड़ में आ जाता है।

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसने दिशा को बदला है, मौलिक वृत्तियों का परिष्कार किया है, हृदय का परिवर्तन किया है, चेतना का रूपान्तरण किया है। इन सारे संदर्भों में कहा जा सकता है कि मनुष्य की सबसे बड़ी उपलब्धियाँ हृदय का परिवर्तन, चेतना का रूपान्तरण और मौलिक मनोवृत्तियों का परिष्कार है।

हृदय-परिवर्तन के आधार पर समाज में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई। किसी और प्राणी में नैतिक मूल्य जैसा कोई तत्त्व नहीं होता। यह आवश्यक भी नहीं है, क्योंकि वहाँ बुद्धि का इतना विकास नहीं हुआ है। जहाँ बुद्धि का विकास नहीं होता, वहाँ नैतिक मूल्यों की स्थापना नहीं हो सकती। बुद्धि के द्वारा अनैतिक मूल्यों की भी स्थापना हो सकती है। बेचारे दूसरे प्राणियों में बौद्धिक विकास नहीं है, तो अनैतिक मूल्य भी नहीं है। वे कभी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। वे सदा निश्चित मर्यादा में चलते हैं। अतिक्रमण नहीं

होता। न नैतिकता और न अनैतिकता। मनुष्य ने अपनी बुद्धि के द्वारा ऐसे मूल्यों की स्थापना की जो समाज के लिए कल्याणकारी नहीं हैं, अकल्याणकारी हैं। दिशा-परिवर्तन हुआ और उसने नैतिक मूल्यों की स्थापना की। दंडशक्ति का प्रयोग और बल का प्रयोग, यह मनुष्य में ही नहीं, हर प्राणी में चलता है। मनुष्य ही इसका प्रयोग नहीं करता, छोटे से छोटे प्राणी भी दंडशक्ति का प्रयोग करते हैं। प्राणियों की बात छोड़ दें, वनस्पति संसार में भी दंडशक्ति का प्रयोग चलता है। चींटियों में भी यह प्रचलित है। मधुमक्खियाँ तो दंडशक्ति का प्रयोग करती ही हैं। खोज करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्येक प्राणी में दंडशक्ति का प्रयोग और बल प्रयोग, ये दोनों चलते हैं। ऐसे वृक्ष होते हैं जो दंडशक्ति का प्रयोग कर प्राणियों को फँसा लेते हैं। ऐसे वृक्ष हैं जिनकी पत्तियाँ पहले खुली होती हैं, फिर जैसे ही कोई प्राणी आकर उन पर बैठता है, वे सिकुड़ जाती हैं। प्राणी उनमें फँस जाता है। वे पत्तियाँ प्राणी को निचोड़कर, चूसकर बाहर फेंक देती हैं। एक नहीं, अनेक ऐसे वृक्ष हैं, पौधे हैं, जो बलप्रयोग करते हैं। वे अन्य जीवों को चूसते हैं, उनका शोषण करते हैं। इसी तरह चींटियाँ सामुदायिक व्यवस्था का पालन करती हैं। चींटियों की रानी सारी व्यवस्था का संचालन करती है। जो चींटियाँ काम करने से जी चुराती हैं, आलसी हो जाती हैं, उन्हें समाज से बाहर निकाल दिया जाता है। मधुमक्खियों की भी यही व्यवस्था है। रानी मधुमक्खी काम न करने वाली मधुमक्खियों को दंड देती है, उनका बहिष्कार करती है और दंडस्वरूप उनसे अधिक काम कराती है।

सभी प्राणियों में दंड और बलप्रयोग की व्यवस्था चलती है। मनुष्य ने दंडशक्ति के स्थान पर आत्मानुशासन का विकास किया है। उसकी यह धारणा रही है कि बल का प्रयोग कम हो, दंडशक्ति का प्रयोग कम हो और आत्मानुशासन जागे।

हृदय-परिवर्तन के सूत्र

हृदय-परिवर्तन का पहला सूत्र है, 'आत्मानुशासन'। जब तक आत्मानुशासन का विकास नहीं होता, तब तक नहीं माना जा सकता कि हृदय-परिवर्तन हुआ है। हृदय-परिवर्तन हमारी चेतना की एक अमूर्त क्रिया है। उसे देखा नहीं जा सकता। किन्तु आत्मानुशासन के विकास को देखकर जान

जाते हैं कि इस व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन हो गया है।

आत्मानुशासन का विकास समाज और सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का एक महत्त्वपूर्ण अवदान है। आत्मानुशासन के बिना अहिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती। अहिंसा का पूरा विकास आत्मानुशासन के आधार पर ही किया जा सकता। अहिंसा का पूरा विकास आत्मानुशासन के आधार पर हुआ है।

हृदय-परिवर्तन का दूसरा सूत्र है, 'अभय का विकास'। अभय के बिना भी अहिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती। भय मौलिक मनोवृत्ति है। आदमी डरता है। डर समूचे जीवन में व्याप्त है। आदमी को भूत, भविष्य और वर्तमान, तीनों कालों का भय सताता रहता है। आदमी अतीत के भय से त्रस्त हो जाता है। जो घटना घट चुकी है, जो घटना चली गई, उसका भी भय आदमी के संस्कारों में अंकित हो जाता है और वह पूरे जीवन में भयभीत रहता है।

आदमी के जीवन में एक घटना घटी। वह उससे डर गया। उसने भय को मिटाने के उपाय किए, पर सफलता नहीं मिली। एक व्यक्ति से पूछा। उसने कहा, 'सबसे सरल और अचूक उपाय यह है कि तुम घटना को भूल जाओ। उसे याद मत करो।' उसे यह उपाय अच्छा लगा। अब वह निरंतर यह सोचने लगा, 'मुझे उस घटना को भूलना है', 'मुझे उस घटना को भूलना है।' भूलने-भूलने के बहाने स्मृति की पकड़ इतनी मजबूत हो गई कि वह घटना हमेशा तरोताजा रहने लगी। अतीत का भय रहता है। भय की स्मृतियाँ बहुत सताती हैं।

आदमी को वर्तमान का भय भी सताता है। यह न हो जाए, वह न हो जाए, चोर न आ जाए, अफसर न आ जाए। वर्तमान का यह भय भी बहुत पीड़ादायक होता है।

भविष्य का भय कल्पनाजनित भय है। वह भी कम भयानक नहीं होता। आदमी बार-बार सोचता रहता है कि अवस्था आ रही है, बूढ़ा हो जाऊँगा तो क्या होगा? क्या बच्चे सेवा करेंगे? क्या भोजन सुख से मिल पाएगा? धन नहीं रहेगा तो क्या करूँगा? अस्वस्थ हो जाऊँगा तो क्या होगा? इस प्रकार एक के बाद दूसरी चिंता उसे घेरे रहती है। डर मनुष्य के जीवन में क्षण-क्षण साथ चलता है, किन्तु मनुष्य ने विकास किया अभय का। साधना करते-करते इतना विकास हो जाता है कि भय शब्द ही समाप्त हो जाता है। आदमी ने उन

साँपों के साथ भी मैत्री की स्थापना की, जिनका नाम सुनते ही वह कांप उठता है। उसने ऐसे हिंसक पशुओं के साथ भी मैत्री स्थापित की, जो आदमी को मारकर खा जाते हैं। आदमी ने मैत्री का विकास किया, अभय का विकास किया। जैसे-जैसे जीवन में अहिंसा, अभय और मैत्री का विकास होता है, सभी प्राणी मित्र बन जाते हैं।

अहिंसा की शक्ति

लोग दंड-शक्ति से परिचित हैं, इसलिए उसमें विश्वास जमा हुआ है। अहिंसा में जो शक्ति है, वह हिंसा या दंड में नहीं है। पर दूसरों के नियंत्रण के लिए उसका कोई उपयोग नहीं है। दूसरों का नियंत्रण दंड-शक्ति ही कर सकती है। इसलिए लोग चाहते हैं कि दंड की शक्ति चलती रहे। उसके बिना अराजकता की स्थिति हो जाएगी। अनेक राष्ट्रों में अन्याय, अत्याचार और उत्पीड़न के विरोध में हिंसक क्रांतियाँ हुईं। वे अपने लक्ष्य में सफल हुईं। विश्वास दृढ़ हो गया कि हिंसा सफल होती है। हिंसा की सफलता का मतलब है भौतिक लक्ष्य की पूर्ति।

आज अहिंसा की सफलता का मानदंड भी वही है। आर्थिक कठिनाइयों को मिटा सकी तो अहिंसा सफल हुई, यह माना जाएगा और उन्हें न मिटा सकती तो विफल। सचमुच यह भूल हो रही है, अहिंसा को लक्ष्यहीन किया जा रहा है। अहिंसा का लक्ष्य जीवनशोधन है। उसे अधिक प्रभावशाली किया जाए तो कठिनाइयों को पार करने का द्वार अपने आप खुलता है। अहिंसा का प्रयोग आर्थिक गुत्थी को सुलझाने के लिए किया जाए तो उससे परोक्षतः हिंसा को ही सहारा मिलता है।

आर्थिक समस्या के समाधान का सूत्र 'सामाजिक साम्य' हो सकता है। अहिंसा का स्वरूप पवित्रता है, इसलिए वह व्यापक होने पर भी वैयक्तिक है। व्यवस्था का स्वरूप नियंत्रण है। उसमें स्थिति के समीकरण की क्षमता है। इसलिए व्यवस्था के परिणाम से अहिंसा का मूल्यांकन नहीं करना चाहिए। उसकी सफलता जीवन की पवित्रता में है। स्वतंत्रता की रक्षा अहिंसा से हो सकती है। हिंसा या दंड-शक्ति की माया जितनी बढ़ती है, उतनी ही परतंत्रता बढ़ती है। मानवीय सफलता का सर्वाधिक उत्कर्ष स्वतंत्रता है और वह अहिंसा के द्वारा ही लभ्य है।

जीवन की दो धाराएँ

अहिंसा और हिंसा, ये दो विरोधी प्रवाह हैं। इनकी धाराएँ कभी मिलती नहीं। एक जीवन में दो धाराएँ हो सकती हैं। एक वृत्ति में दोनों नहीं हो सकतीं। अहिंसा आत्मा की स्वाभाविकता और जीवन की उपयोगिता है। हिंसा जीवन की अशक्यता और आत्मशक्ति के अल्प विकास की दशा में पनपने वाली बुराई है।

आत्मा, शरीर, वाणी और मन की सहयोगी स्थिति का नाम जीवन है। इस सहयोगी स्थिति का अधिकारी जो होता है, वह व्यक्ति कहलाता है। जीवन स्व (आत्मा) और पर (शरीर, वाणी, और मन) का संगम है। व्यक्ति भी स्व-पर का संगम है। वह स्व-पर के संगम से बनी हुई संस्था है। जीवन का स्व-अंश स्वभाव और पर-अंश विभाव है। वास्तव में स्वाभिमुखता या पदार्थभिमुखकता विभाव, विकार या हिंसा है।

स्वभाव का विकास शुरू होते ही विभाव एकदम चला नहीं जाता। स्वभाव की मात्रा कम होती है, विभाव सताता है, अशांति और उद्वेग लाता है। स्वभाव की मात्रा बढ़ती है, मन, वाणी, शरीर और पदार्थ के प्रति नियंत्रण-शक्ति बढ़ती है, तब विभाव उतना नहीं सताता। फिर जीवन की दिशा और गति स्वयं स्वभावोन्मुख हो जाती है।

अहिंसा विशाल होती है। हिंसा सीमा से परे नहीं हो सकती। एक व्यक्ति क्रूर है, लेकिन उसकी हिंसा की भी एक निश्चित रेखा होती है। वह अपने राष्ट्र, समाज, जाति या कम से कम परिवार का शत्रु नहीं होता। वह हर क्षण क्रियात्मक हिंसा नहीं करता। व्यक्ति क्रोध करता है, पर क्रोध ही करता रहे, ऐसा नहीं होता। मान, माया और लोभ की परम्परा भी निरंतर नहीं बढ़ती। क्रोध की मात्रा बढ़ती है, व्यक्ति में पागलपन छा जाता है। मान, माया और लोभ की बढ़ी हुई मात्रा भी शांति नहीं देती। हिंसा को सीमित किए बिना व्यक्ति जी नहीं सकता।

अहिंसा विशाल है, अनंत है, बंधन से परे है। कोई समूचे जगत के प्रति अहिंसक रहे तो रहा जा सकता है। अहिंसा की मात्रा बढ़ती है, प्रेम का धरातल ऊँचा और निर्विकार होता है, उससे आनंद का स्रोत फूट निकलता है।

अहिंसा अनंत आनंद का सतत प्रवाही स्रोत है, फिर भी मनुष्य का स्वभाव उसमें सहजतया नहीं रमता। इसका कारण नियंत्रण-शक्ति का अभाव है। मन, वाणी और शरीर की निरंकुश वृत्तियों का प्रतिरोध करने की आत्मशक्ति का जितना कम विकास होता है, उतना ही अधिक हिंसा का वेग बढ़ता जाता है। हिंसा की मर्यादाएँ, कृत्रिम होती हैं। उनमें तड़क-भड़क और लुभावनापन भी होता है। अहिंसा में दिखावटीपन या बनावटीपन नहीं होता। वह आंतरिक मर्यादा है। वह आती है, तभी व्यक्ति का व्यक्तित्व एवं जीवन की स्वतंत्रता निखरती है। आचार्य तुलसी ने अपने एक प्रवचन में कहा, 'आत्मानुवर्ती-नियमानुवर्ती, यानी अहिंसक ही वास्तव में स्वतंत्र है।'

अभय का मूल अहिंसा

मनुष्य बुराई करते नहीं सकुचाता। इसीलिए दुनिया का प्रवाह विकार की ओर है। भोग और इंद्रियों की दासता बढ़ रही है। कहा जाता है कि प्रकृति पर विजय पाने के लिए मनुष्य सफल अभियान चला रहा है। यह तथ्यहीन दावा है। पानी और अग्नि पर विजय प्राप्त करना ही प्रकृति पर विजय नहीं है। शरीर, वाणी और मन को जीते बिना प्रकृति नहीं जीती जा सकती। स्व-विजय के बिना प्रकृति-विजय वरदान न बन अभिशाप बन जाती है। स्व-विजय का प्रयत्न बहुत थोड़ा होता है, इसलिए भोग सता रहे हैं, विकार और हिंसा बढ़ रही है। एक की दूसरे के साथ स्पर्द्धा है। वातावरण भय से भरा है। अहिंसा का दूसरा पहलू अभय है। अपनी मौत से डरना भी हिंसा है। जो दूसरों को पराधीन रखना चाहते हैं, हीन बनाए रखना चाहते हैं, जातिगत भेदभाव रखते हैं, छुआछूत, ऊँच-नीच और काले-गोरे के पचड़े में पड़े हुए हैं, वे अभय नहीं हैं, शांत नहीं है। जिनकी भोग में लिप्सा बढ़ी हुई है, जो परिग्रह के पुतले और शोषण के पुंज बने हुए हैं, उनसे पूछिए, उन्हें कितनी शांति है? शांतिपूर्ण जीवन वही बिता सकता है, जो बुराइयों से दूर है। बुराई से दूर वही रह सकता है, जिसमें प्रतिरोधात्मक शक्ति या स्व-नियंत्रण का पर्याप्त विकास होता है।

समानता की स्थापना

धर्म को समझने के लिए जितना व्यक्ति को समझना जरूरी है, उतना ही जरूरी है समाज को समझना। धर्म के साथ कर्म का सिद्धान्त जुड़ा हुआ है।

कर्म की व्याख्या व्यक्ति और समाज, दोनों के संदर्भ में होती है। जैन कर्म-विज्ञान के अनुसार गोत्र कर्म आठ प्रकार से भोगा जाता है—जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य। रूप, बल, श्रुप, तप, ये व्यक्ति से संबंधित हैं। जाति, कुल, लाभ, ऐश्वर्य, ये समाज से संबंधित हैं। कर्म-प्रकृतियों का विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि कुछ कर्म-प्रकृतियाँ समाज सापेक्ष बताई गई हैं। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक जिन कर्म-प्रकृतियों का कोई विशेष अर्थ नहीं होता, अकेले आदमी में भी उनका विशेष अर्थ नहीं होता, परन्तु समाज के संदर्भ में वे कर्म-प्रकृतियाँ सार्थक बन जाती हैं।

कर्म की प्रकृति

आठ कर्मों में एक कर्म है 'मोहकर्म'। मोहकर्म की कुछ प्रकृतियाँ समाज-सापेक्ष हैं। क्रोध के लिए कोई दूसरा चाहिए। अहंकार के लिए तो पूरा समाज चाहिए। दूसरा न हो तो क्रोध का उदय ही नहीं होगा। समाज न हो तो अहंकार का उदय नहीं होगा। कर्म के विपाक में सामग्री बनता है समाज। यदि समाज है तो अहंकार है। समाज नहीं तो अहंकार नहीं। कपट के लिए भी यही बात है। लोभ के बढ़ने का कारण भी समाज है। एक प्रतिस्पर्द्धा होती है, व्यक्ति सोचता है कि उसने तो इतना धन कमा लिया, मैंने बहुत कम कमाया है। उसने इतना बड़ा मकान बना लिया, मैं इससे भी बड़ा बनाऊँगा। अहं के विस्तार में समाज निमित्त बनता है। जुगुप्सा, घृणा आदि की अभिव्यक्ति भी समाज-सापेक्ष है। समाज न हो तो शायद घृणा का प्रसंग ही न आए। कर्म की ऐसी अनेक प्रकृतियाँ हैं, जिन्हें समझने के लिए समाज की स्थितियों को समझना जरूरी है।

समाज की स्थिति

समाज विज्ञान का ज्ञान सामाजिक व्यक्ति के लिए ही नहीं; धार्मिक व्यक्ति के लिए भी आवश्यक है। यदि समाज की सभी स्थितियों को जानने का प्रयत्न करें, तो वे स्पष्ट होंगी। वे कैसे बनती हैं? रूढ़ियाँ और धारणाएँ कैसे पनपती हैं? हम प्रागैतिहासिक युग को देखें। उस समय समाज में घृणा का विकास नहीं था। घृणा किससे हो? एक बहुत छोटा-सा वर्ग, एक जोड़ा (युगल) घूमता रहता। न कोई कुल, न गाँव, न नगर, न समाज और न जाति।

कोई बड़प्पन नहीं था। अहंकार का विपाक कम था। घृणा कहाँ से आती? धीरे-धीरे मनुष्य का विकास हुआ, समाज बना। केवल वस्तु और पदार्थ का ही विस्तार नहीं हुआ, वृत्तियों का भी विकास हुआ। अनेक कर्मों को उदय होने का अवसर मिला। मोहनीय कर्म को उदय होने का अवसर समाज में ज्यादा मिलता है। यदि समाज न हो तो मोहनीय कर्म का विपाक कहाँ होगा? यदि अकेला आदमी पहाड़ की गुफा में बैठ जाए, वर्षों तक वहीं जीवन बिताए, तो कौन-सा मोहनीय कर्म विपाक में आएगा? वहाँ बैठा व्यक्ति किससे प्रतिस्पर्धा करेगा? किसका लोभ करेगा? किस पर अहंकार करेगा? घृणा किससे होगी? बहुत सारी प्रकृतियाँ शांत रहेंगी।

बदलने का सामर्थ्य

यह हमारा ही आत्म-कर्तृत्व है कि हम निमित्तों को बचा लेते हैं, स्थितियों को भी बदल देते हैं, तो कर्म के विपाक का मंदीकरण भी कर सकते हैं। विपाक में, उदय में आनेवाला कर्म प्रदेशोदय में आकर समाप्त हो जाता है। यह आत्म-कर्तृत्व का सूत्र है—‘जो विपाक में आनेवाला है, उसे प्रदेशोदय में भुगत लेना।’ इस कर्तृत्व का सबसे बड़ा प्रमाण कर्म को बदलने का सामर्थ्य है। सड़कें बदली जा सकती हैं, मकान नए बनाए जा सकते हैं, पदार्थ की आकृति या प्रकृति को बदला जा सकता है, किन्तु कर्म जैसे सूक्ष्म क्षेत्र में प्रवेश करना और उसे बदल देना, कितना बड़ा कर्तृत्व है। विपाकोदय का प्रदेशोदयीकरण आत्म-कर्तृत्व का स्वयंभू प्रमाण है।

असमानता की अभिव्यक्ति

घृणा और अहं, इन दो तत्त्वों ने समाज में विषमताएँ पैदा की हैं। कहीं जाति को लेकर असमानता है, कहीं रंग को लेकर असमानता है। भारत में जाति के आधार पर असमानता चलती है और पश्चिमी देशों में रंग-भेद के आधार पर। किसी न किसी रूप में घृणा और अहं को अभिव्यक्ति का मौका मिल ही जाता है। एक समय भगवान ऋषभ का था, जब मानव जाति एक थी। न जाति का भेद था, न ऊँच-नीच और न छुआछूत का प्रश्न था। ऋषभ ने कार्य के आधार पर व्यवस्था का प्रवर्तन किया। प्रश्न आया, सफाई का कार्य कौन करे? भरत के पुत्र ने कहा, ‘मैं करूँगा।’ ऋषभ ने उसे

महत्तर का पद दिया। उसे बहुत सम्मान दिया। वही पद अहंकार के चपेटे खाते-खाते मेहतर बन गया और घृणित हो गया। उसे नीच माना जाने लगा। जो बड़ा होता है, वह सामाजिक परिवर्तन का कारण बनता है। सत्ता में ऐसे शासक आए, जिनका अहंकार भी प्रबल हो गया, घृणा भी प्रबल हो गई और उसके आधार पर समाज-व्यवस्था बनी। समाज के जो पुरोधा वर्ग के लोग थे, उन्होंने इसमें अहं भूमिका निभाई।

समाज का बिखराव

आश्चर्य यह है कि धर्म ने इस विषमता को समर्थन दिया। इस मान्यता को धार्मिक रूप दे दिया, एक छोटा होता है और एक बड़ा। जातिवाद धर्म से जुड़ा हुआ है। यह धर्म का तत्त्व है, जिसने अच्छा कर्म किया, वह बड़ा बन गया। जिसने अच्छा कर्म नहीं किया, वह नीचा बन गया। वैदिक परम्परा में इस बात को स्वीकार किया गया कि जातिवाद तात्त्विक है। जन्मना जाति होती है। जैन आचार्यों ने इस बात का खंडन किया, जातिवाद तात्त्विक नहीं है। जन्मना जाति नहीं होती। जातिवाद काल्पनिक है। यह मनुष्यकृत है, ईश्वरकृत नहीं। जैन धर्म की यह स्वीकृति है। इसमें न जातिगत भिन्नता या विशेषता मान्य हो सकती है और न घृणा की बात मान्य हो सकती है। श्रमण परम्परा और वैदिक परम्परा में यह एक मौलिक भेद रहा है, किन्तु कालक्रम से इतना प्रभाव आया कि जैन भी अपना सिद्धान्त भूल गए। जैनों ने जातिवाद को इस प्रकार पकड़ लिया, मानो यह उनकी ही बपौती हो। आज जैन परम्परा में ऐसे लोग हैं, जो जातिवाद में विश्वास करते हैं और शूद्र के प्रति अत्यंत घृणा का भाव रखते हैं। जातिवाद की इस विकरालता का दक्षिण भारत में बहुत प्रभाव रहा। यह धारणा भी बन गई कि जिस गली से चांडाल निकलता है, उस गली से ब्राह्मण निकलना पसंद नहीं करता। स्पर्श तो दूर की बात है, चांडाल की छाया पड़ जाए तो भी अपवित्र हो जाए। जहाँ इस प्रकार की मानसिकता हो, वहाँ समाज में बिखराव न हो, यह कैसे संभव है? इस विषम स्थिति में ही आरक्षण की बात आती है। आरक्षण के लिए आंदोलन होते हैं। कहा जा रहा है कि जातिवाद के नाम पर जितने पाप कमाए हैं, आरक्षण उन पापों का प्रायश्चित्त है।

समानता के हेतु

.आज भी जातिगत भेद और घृणा भारतीय जीवनशैली के अंग बने हुए हैं। यद्यपि शहरों के वातावरण में कुछ फर्क आया है, लेकिन गाँवों में तो आज भी वही हालात हैं। कई गाँवों में आज भी हरिजनों को कुओं से पानी भरने नहीं दिया जाता, मंदिर में प्रवेश नहीं मिलता। उत्तर प्रदेश और बिहार में यह समस्या भयंकर है। हरिजनों की पूरी बस्तियाँ ही जला दी जाती हैं। इस स्थिति में इस सच्चाई की प्रतिष्ठा जरूरी है कि समाज में समानता आए, जातिगत भेदभाव न रहे।

समाजशास्त्रियों ने समानता का एक हेतु 'आंतरिक आकर्षण' बतलाया है। उसी के आधार पर समानता की भावना पनपती है। जहाँ संज्ञानात्मक बोध है, आंतरिक आकर्षण है, वहाँ समानता होगी। दूसरा हेतु गुणात्मक समानता है। जहाँ गुण समान होता है, वहाँ आंतरिक आकर्षण पैदा हो जाता है। समानता लाने वाला मुख्य घटक है आंतरिक आकर्षण।

जातिभेद का कारण

जातिभेद मुख्यतः अहंकार के आधार पर पनपा है। जो भौमिक-जमींदार बने, उन्होंने सोचा कि एक भूमिहीन या सामान्य व्यक्ति के साथ संबंध जोड़ना, लड़की को लेना-देना, हमारे वर्ग की गरिमा के अनुरूप नहीं होगा। विवाह-शादी का संबंध-विच्छेद हो गया। वे अधिक ऊँचे बन गए, फिर रोटी का संबंध भी विच्छिन्न हो गया। धीरे-धीरे इस घृणा का विकास हुआ।

आंदोलन की आवश्यकता

हमें इस तथ्य को स्वीकार करना होगा कि हिन्दुस्तान में समाज केवल एक ढाँचे के रूप में रहा, सही अर्थ में प्राणवान नहीं रहा, इसलिए यह असमानता का तत्त्व विकसित होता चला गया। पश्चिम में चार वर्ण की व्यवस्था नहीं रही, वहाँ जातिवाद की समस्या नहीं है, किन्तु अहं और घृणा कम नहीं हैं। मनुष्य के अहं को अभिव्यक्ति का अवसर मिल गया। रंग पर ध्यान अटक गया, यह गोरा है और यह काला। आज भी दक्षिण अफ्रीका में जहाँ गोरे लोग रहते हैं, वहाँ काले लोग अपना मकान नहीं बना सकते। जब तक आदमी में अहं और घृणा का भाव है, तब तक इस समस्या का समाधान

नहीं हो सकता। सबसे पहले यह समझना होगा कि हम एक-दूसरे का सहारा लिए बिना आगे नहीं बढ़ सकते, विकास नहीं कर सकते। प्रत्येक मनुष्य समान है, विकास में सबका योग है। यह सूत्र पकड़ पाएँ तो समानता की ओर गति होगी। इसके लिए जरूरत है एक आंदोलन की, जो जनता में समानता की चेतना जगा सके, अहं और घृणा की चेतना को परिष्कृत कर सके। इस अभिक्रम की सफलता लोकतंत्र को स्वस्थ, पवित्र और चिरंजीवी बना देगी।

अहिंसा की वास्तविक सच्चाई

वास्तविक सच्चाई और व्यावहारिक सच्चाई के बीच एक दूरी है। वह दूरी अतीत में थी और आज भी है। मानवीय दुर्बलता पहले भी थी और आज भी है। मनुष्य आदर्श की बात करता है, उसे जीना पसंद नहीं करता। उसके भीतर महानता और अल्पता, दोनों के बीज विद्यमान हैं। महानता के बीज को जब सिंचन मिलता है, तब वह आदर्श की ओर कदम बढ़ाता है। अल्पता के बीज सक्रिय होकर उसे आदर्श विमुख बना देते हैं। यही हेतु है वास्तविक सच्चाई और व्यावहारिक सच्चाई की दूरी का।

अहिंसा वास्तविक सच्चाई है। भगवान महावीर ने कहा—अहिंसा सब जीवों का कल्याण करने वाली है। जैसे भूखे के लिए भोजन, प्यासे के लिए जल और पक्षी के लिए आकाश सहारा है, वैसे ही अहिंसा सबके लिए सहारा है। व्यवहार की समस्या प्रबल बनती है, तब आदमी इस वास्तविक सच्चाई को आँखों से ओझल कर देता है।

प्रश्न है औचित्य का

‘अकडं करिस्सामि’ जो कार्य किसी ने नहीं किया, वह मैं करूँगा, यह धारणा भी आदमी को वास्तविक सच्चाई से दूर ले जाती है। वैज्ञानिक जगत में एक होड़ लगी हुई है कुछ नया खोजने की, कुछ नया करने की। नया खोजना बुरा नहीं है, किन्तु जिस नई खोज के साथ मानव जाति के विनाश की बात जुड़ी हुई हो, वह नई खोज निश्चित ही अवांछनीय है। मैक्सिको के डॉक्टरों ने पार्किंसन (एक प्रकार का कंपनशील लकवा) से पीड़ित दो रोगियों के मस्तिष्क में भ्रूण के टिस्सुओं का प्रत्यारोपण किया। इससे उन रोगियों को काफी राहत

मिली। प्रश्न राहत का नहीं है। प्रश्न है नैतिकता का, औचित्य का। क्या एक रोगी को ठीक करने के लिए एक भ्रूण की हत्या करना उचित है? क्या इसे नैतिक कार्य माना जा सकता है?

आचार्य भिक्षु अहिंसा के मर्मज्ञ थे। उन्होंने अहिंसा को गहरी सूक्ष्म दृष्टि से देखा और उसकी समीक्षा की। उन्होंने एक प्रश्न उपस्थित किया—'क्या बड़े जीवों को बचाने के लिए छोटे जीवों की हत्या करना संगत है?' इस प्रश्न की समीक्षा के बाद उन्होंने लिखा—'जो लोग बड़े जीवों के लिए छोटे जीवों की हिंसा को उचित ठहराते हैं, वे छोटे जीवों के शत्रु हैं। रोगी दुःखी है। उसके दुःख को दूर करना डॉक्टर का कर्तव्य हो सकता है। किन्तु यह कर्तव्य कैसे हो सकता है कि एक अजन्मे बालक को मार कर जन्मे बूढ़े या युवक को बचाए!' भगवान महावीर की वाणी में यह दुःख प्रतिघात के लिए की जाने वाली हिंसा है। रोग एक दुःख है। सेवा का काम करने वाले दूसरे के दुःख का निवारण करना चाहते हैं। पर जैसे-तैसे एक के दुःख का निवारण कर दूसरे को दुःखी बनाना तर्क, बुद्धि और समझ से परे है।

श्रेष्ठता की कसौटी

मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है, इस धारणा के आधार पर उसके लिए सब कुछ करना क्षम्य मान लिया गया। वर्तमान चिकित्सा के क्षेत्र में लाखों-लाखों मूक पशु परीक्षण के लिए मार दिए जाते हैं। क्या इस हिंसा के आधार पर जीनेवाला आदमी अहिंसा के विकास की बात सोच सकता है? क्या आदमी अमर है अथवा अमर होगा? रोगों की रोकथाम के लिए स्वाभाविक प्रयत्न करना असंगत नहीं कहा जा सकता। अस्वाभाविक प्रयत्नों की जो शृंखला शुरू हुई है, उससे अनेक प्रश्न उभर रहे हैं। क्या इस दुनिया में केवल मनुष्य को ही जीने का अधिकार है? मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है, क्या वह इसीलिए सर्वश्रेष्ठ है? इन प्रश्नों का उत्तर आज का पर्यावरण विज्ञानी दे रहा है। पर्यावरण विज्ञान श्रेष्ठता की कसौटी कोरी बौद्धिकता ही नहीं है। सृष्टि का संतुलन बनाए रखने में जिनका योगदान है, उन सबकी अपनी श्रेष्ठता है। उन सारी श्रेष्ठताओं का योग ही यह जगत है। इस स्थिति में मनुष्य के लिए सब कुछ क्षम्य क्यों? मनुष्य के लिए मनुष्य के भ्रूण की हत्या क्या क्षम्य हो सकती है?

युग की समस्या

प्रश्न जीने और मरने का नहीं है। जन्म लेने वाला हर व्यक्ति मरता है। इसलिए मरना कोई अजीब घटना नहीं है। अजीब घटना है गलत मान्यता और उसके आधार पर होने वाला आचरण। इन गलत मान्यताओं ने प्रकृति के साम्राज्य में अनावश्यक हस्तक्षेप की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। यह हस्तक्षेप मनुष्य के कर्तव्य को दैव या ईश्वरीय रूप दे सकता है, करने, न करने और अन्यथा करने में उसे सक्षम बना सकता है, किन्तु गलत मान्यता और गलत आचरण के कारण मनुष्य में जो क्रूरता उत्पन्न होती है, उसका समाधान कहाँ से मिले? क्रूरता आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है। वह करुणा को निरंतर लीलती जा रही है। क्या करुणा के बिना मनुष्य मनुष्य रह पाएगा?

जीवन और जीविका

स्वर्ग परोक्ष है। मोक्ष अत्यंत परोक्ष है। मन की शांति प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष के प्रति जितना आकर्षण है, उतना परोक्ष के प्रति नहीं होता। गुरु अपने शिष्य को प्रतिपादन की शैली का अर्थ समझा रहे थे। वे बोले—धर्म अव्याकृत नहीं है। उसका प्रतिपादन किया जा सकता है। वह जीवन दर्शन का स्पर्श करनेवाला हो तो अधिक उपयोगी और अधिक आकर्षक हो सकता है। कोरी उपदेशात्मक शैली निरंतर आकर्षण उत्पन्न नहीं करती। चरित्र अथवा दृष्टान्त का सहारा लो और अपने वक्तव्य को आकर्षक बनाओ। प्रतिपादन का लक्ष्य होना चाहिए, शांतिपूर्ण जीवन का दर्शन।

जीवन दर्शन की तीन कसौटियाँ हैं—

- व्यक्ति को क्या लाभ मिल रहा है?
- समाज को क्या लाभ मिल रहा है?
- वर्तमान की समस्या का समाधान हो रहा है या नहीं?

यदि परिवर्तन की समस्या सुझलती है तो भविष्य अपने आप उज्वल बन जाता है।

अभयारण्य

एक राज्य की विचित्र परम्परा थी। साठ वर्ष की आयु

के बाद राजा को राजगद्दी छोड़नी होती। नए राजा का अभिषेक हो जाता। पुराने राजा को अरण्य में छोड़ दिया जाता। यह परम्परा लम्बे समय तक चलती रही। राज्यमुक्त होने के बाद सब राजा पछताते पर अपने राज्यकाल में इस समस्या पर किसी ने भी गहरा चिंतन नहीं किया। राजा प्रद्युम्न के मन में एक विचार उभरा, 'यदि मैं वर्तमान को पकड़ूँ तो भविष्य की चोटी मेरे हाथ में आ सकती है'। अपनी चोटी पकड़े बिना अपनी छाया की चोटी कभी नहीं पकड़ी जा सकती। उसने वर्तमान पर ध्यान केंद्रित किया और समस्या का समाधान खोज लिया। जिस अरण्य में राज्यमुक्त राजा को छोड़ा जाता, उसे सुंदर बनाने की कल्पना की। एक योजना बनाई। देखते-देखते अरण्य एक रमणीय बगीचे में बदल गया। बड़े-बड़े प्रासाद, राजपथ, विशाल जलाशय उसकी उपयोगिता बढ़ाने लगे। भोजन और चिकित्सा की व्यवस्था और जो कुछ चाहिए, वह सब वहाँ उपलब्ध हो गया। अरण्य की विभीषिका क्रीड़ागृह की रमणीयता में बदल गई। राजा बहुत प्रसन्न था। उसके मन में अब कोई भय नहीं रहा। राज्यमुक्ति का समय आया। पुत्र को राज्यासीन बना स्वयं अरण्यवास के लिए चल पड़ा। वह अरण्यवास राजप्रासाद से भी अधिक सुखद और आकर्षक था। वहाँ रहने को बड़े-बड़े लोग ललचाने लगे। जो भयारण्य था, वह अभयारण्य में बदल गया।

वर्तमान की जागरूकता

मनुष्य के सामने कितने भयारण्य होते हैं! बहुत लोग उनमें अपना संकटमय जीवन जीने को विवश होते हैं। कितना अच्छा हो, कोई नई कल्पना और नई योजना बना उस भयारण्य को अभयारण्य बना दे! वर्तमान का मूल्यांकन होने पर ही इसकी संभावना बन सकती है। वर्तमान की जागरूकता ही जीवन की सफलता का सूत्र है। उसी के आधार पर उज्वल भविष्य के देवालय का शिलान्यास किया जा सकता है। केवल अतीत के सुनहरे सपने

दिखाने वाला धर्म भी चिरजीवी नहीं रह सकता। वही धर्म स्थायी आकर्षण पैदा कर सकता है, जो वर्तमान की समस्या को सुलझाता है।

जीवन है समन्वय

वर्तमान काल की एक अजस्र धारा है। जीवन भी एक शाश्वत प्रवाह है। वह जिया जा रहा है, लेकिन समझा नहीं जा रहा है। शरीर अपना काम करता है। इंद्रियाँ, प्राण, मन और चेतना—ये सब अपना-अपना काम करते हैं। हम कार्य को समझते हैं, उसके समन्वय को नहीं समझते। शरीर, इंद्रियाँ, प्राण, मन, चेतना और समन्वय का नाम है जीवन। इनमें से कोई एक जीवन का तत्त्व नहीं है।

क्या शरीर जीवन है ?

नहीं।

क्या इंद्रियाँ जीवन हैं ?

नहीं।

क्या प्राण, मन और चेतना जीवन हैं ?

उत्तर होगा—नहीं।

फिर जीवन क्या है ?

जीवन है समन्वय। शरीर, इंद्रिय, प्राण, मन और चेतना, इनका समवाय है जीवन।

अकेला पहिया कार नहीं है। इंजिन भी कार नहीं है। एक्सीलेटर और ब्रेक भी कार नहीं है। इन सबका योग है कार।

जीवन का लक्ष्य

बहुत लोग पूछते हैं—जीवन का लक्ष्य क्या है ? इसका उत्तर बहुत सीधा भी है और बहुत जटिल भी है। व्यवहार नय की भाषा में लक्ष्य है विकास, आनंद का सुख। निश्चयनय की भाषा में लक्ष्य है स्वतंत्रता। मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है। वह अपने लक्ष्य का निर्धारण करता है, उसकी पूर्ति के लिए साधन-सामग्री जुटाता है। शरीर, इंद्रियाँ, प्राण और मन, ये लक्ष्य की पूर्ति के साधन हैं। साध्य है चेतना, चेतना का विकास, चेतना की स्वतंत्रता। अपने आप में

होना, अपने आपको जानना और अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखना, यह वस्तुगत लक्ष्य है। इसी आधार पर मनुष्य की स्वतंत्रता सुरक्षित है। निर्धारित लक्ष्य में अव्यवस्था हुई है। मनुष्य ने शरीर और इंद्रियों की तृप्ति को लक्ष्य बनाया, इसीलिए जीवन का मुख्य लक्ष्य बन गया—सुख।

जीवन व जीविका

सुखवाद आचारशास्त्र का एक बहुचर्चित वाद है। सुख पाने के लिए नैतिक या धार्मिक जीवन जरूरी है, किन्तु सुख को शरीर और इंद्रिय तक सीमित कर दिया गया, इसलिए नैतिकता जरूरी नहीं रही, जीविका उससे अधिक जरूरी बन गई। आज पूरे समाज में जीवन और जीविका का संघर्ष चल रहा है। जीवन अच्छा हो, इसकी चिंता माता-पिता को है और विद्यार्थी को भी है। जीविका अच्छी हो, इसकी चिंता माता-पिता को कम है और विद्यार्थी को भी कम है। इस परिस्थिति में एक व्यवसायी मनोवृत्ति का विकास हुआ है।

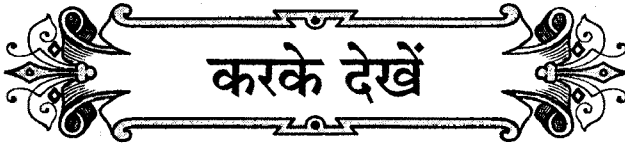
कहा जाता है कि एक व्यवसायी मृत्यु के बाद यमराज के पास पहुँचा। यमराज ने उसके जीवन का लेखा-जोखा कर पूछा, 'तुम कहाँ जाना चाहते हो, स्वर्ग में या नरक में?' व्यवसायी बोला, 'हुजूर! जहाँ दो पैसे की कमाई हो, वहाँ भेज दो। मुझे स्वर्ग और नरक से कोई मतलब नहीं है।'

इस मनोवृत्ति का विकास जीवन के विकास की सबसे बड़ी बाधा है। पदार्थ और पैसे की होड़ इसी मनोवृत्ति का परिणाम है। इस मनोवृत्ति ने और भी न जाने कितनी समस्याएँ पैदा की हैं! क्या आज का चिंतनशील युवा जीवन और जीविका के बीच कोई भेदरेखा खींचने की बात सोचेगा?

स्वर्णिम सूत्र

तुम क्या चाहते हो ?

यदि चाह स्वस्थ तो आगे बढ़ोगे। चाह को सही दिशा दो।
सही दृष्टि और सही दिशा आदमी को आदमी बनाती है।



● ज्योति केन्द्र प्रेक्षा—आवेग शांति के लिए

सहज आसन, आंखें कोमलता से बंद चित्त को ललाट के मध्य ज्योति केन्द्र पर केन्द्रित करें। वहां चमकते हुए श्वेत बिन्दु का ध्यान करें अथवा आश्विन के पूर्ण चांद को देखे। पूरे ललाट पर श्वेत प्रकाश चमक रहा है ऐसा अनुभव करें। मन ही मन चिन्तन करें आवेग शांत हो रहे हैं। अब सम्पूर्ण ललाट पर सफेद रंग में इस वाक्य को लिखा हुआ देखें। थोड़े समय बाद दो तीन श्वास लें और महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें।

● मंत्र का प्रयोग

भक्तामर प्रणत-मौलिमणि-प्रभाणा-
मुद्योतकं दलित-पाप-तमो वितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
बालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥
पूर्वाभिमुख होकर प्रतिदिन एक माला ।

परिणाम—प्रत्येक क्षेत्र में सफलता एवं सम्यक् दशा का निर्माण ।

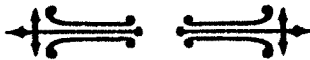
● संकल्प का प्रयोग

- मैं आत्मानुशासन को विकसित करने का प्रयास करूंगा।
- मैं समानता की चेतना का विकास करूंगा ।
- मैं करुणा का विकास करूंगा ।
- मैं जातिवाद को बढ़ावा नहीं दूंगा ।
- मैं समस्याओं के समाधान में अपने आपको नियोजित करूंगा।

अध्याय कहता है

जो जीवन की दिशा बदल लेता है—

- वह अपनी मौलिक मनोवृत्तियों का परिष्कार करता है।
- वह अपनी दशा का परिवर्तन कर लेता है।
- वह अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाता है।
- वह जीवन शोधन के लिए अहिंसा का प्रयोग करता है।
- वह मोहनीय कर्म को क्षीण करने की साधना करता है।
- वह जातिवाद में विश्वास नहीं करता है।
- वह समानता की चेतना जगाने का कार्य करता है।
- वह करुणा का विकास करता है।
- वह समस्याओं के समाधान में अपना श्रम नियोजित करता है।
- वह अभ्यारण्य बनाने पर ध्यान केन्द्रित करता है।
- वह जीवन और जीविका के बीच भेदेखा खींचने का कार्य करता है।



आचार्य महाप्रज्ञ की चर्चित पुस्तकें

- ◆ यात्रा : एक अकिंचन की
- ◆ सुखी परिवार : समृद्ध राष्ट्र
- ◆ महावीर का पुनर्जन्म
- ◆ ऋषभायण
- ◆ सुबह का चिंतन
- ◆ अप्पाणं शरणं गच्छामि
- ◆ कैसे सोचें ?
- ◆ परिवार के साथ कैसे रहें
- ◆ तुलसी विचार दर्शन
- ◆ विज्ञान अध्यात्म की ओर
- ◆ मैं कुछ होना चाहता हूँ
- ◆ लोकतंत्र : नया व्यक्ति नया समाज
- ◆ तब होता है ध्यान का जन्म
- ◆ कैसे हो सकता है शुभ भविष्य का निर्माण
- ◆ गीता संदेश और प्रयोग
- ◆ मन के जीते जीत
- ◆ किसने कहा मन चंचल है ?
- ◆ मैं हूँ अपने भाग्य का निर्माता
- ◆ मैं : मेरा मन : मेरी शान्ति
- ◆ मुक्त भोग की समस्या और ब्रह्मचर्य
- ◆ आभामंडल
- ◆ विचार को बदलना सीखें
- ◆ धर्म मुझे क्या देगा ?
- ◆ भिक्षु विचार दर्शन
- ◆ महावीर का अर्थशास्त्र
- ◆ महावीर का स्वास्थ्यशास्त्र
- ◆ महाप्रज्ञ ने कहा



आचार्य महाप्रज्ञ ने हर एक विषय पर अपनी लेखनी चलाई, विविध विषयों को प्रवचन का आधार बनाया। दस वर्ष की अवस्था में संसार को त्यागने वाला एक धर्मगुरु सामाजिक, आर्थिक और व्यक्तिगत स्तर पर आने वाली समस्याओं का सटीक समाधान प्रस्तुत करें तो यह महान आश्चर्य है। यह काम आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने अपनी प्रज्ञा जागरण से किया। लोगों के मानस में यह विश्वास जमा हुआ था कि जिस समस्या का समाधान अन्यत्र न मिले वह समाधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ के पास अवश्य मिल जायेगा। बड़े-बड़े चिंतक, दार्शनिक, धर्मगुरु एवं राजनीतिज्ञ सब इस आशा से उनके पास आते थे कि आचार्यश्री महाप्रज्ञ एक ऐसे शख्स हैं, महापुरुष हैं जो सम्पूर्ण विश्व का मार्गदर्शन कर सकते हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ की प्रस्तुत पुस्तक “जो सहता है, वही रहता है” युवा पीढ़ी को नई दिशा देने वाले सूत्रों को संजोये हुए है। ये सूत्र युवाओं के जीवन-निर्माण में चमत्कारिक ढंग से कार्य करेंगे। जिससे युवा जोश के साथ होश को कायम रख सकेंगे और अपने सोचने के तरीके को सम्यक बना सकेंगे।

